नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक

बिगुल

मासिक समाचार पत्र • वर्ष 8 अंक 7
अगस्त 2006 • तीन रुपये • बारह पृष्ठ

अनुराग पुस्तकालय एवं वाचनालय

पूँजीवाद को "मानवीय" बनाने की कवायद धोखा है! विकल्प केवल एक है—पूँजीवाद का विध्वंस और मेहनतकश जनता के राज का निर्माण!

सम्पादक

जुलाई के पहले हफ्ते में तमिलनाडु स्थित सरकारी उपक्रम नेवेली लिग्नाइट कारपोरेशन के विनिवेश मामले में यूपीए सरकार को पीछे हटने के लिए मजबूर करनें के बाद सरकारी वामपंथी लगातार अपनी पीठ थपथपाए जा रहे हैं। वे इस मुगालते में पड़ गये हैं कि उनकी इस कामयाबो से देश का मेहनतकश अवाम फिर से इस भ्रम का शिकार हो जायेगा कि उदारीकरण-निजीकरण के खिलाफ़ उनका विरोध दिखावटी नहीं है। लेकिन सरकारी वामपंथियों की ये सारी कवायदें नंग-धड़ंग देह को चिथड़ों से ढँकने की तरह हैं। पश्चिम बंगाल से लेकर केरल तक इनकी सरकारें देशी-विदेशी पूँजी की अगवानी के जिस तरह लाल गलीचे बिछा रही हैं और यूपीए सरकार से रूठने और मान जाने की जो नौटंकी बार-बार दुहराई जा रही है उससे आम मज़दूरों की आँखें खुलती जा रही हैं। एकदम आम लोग भी अब यह समझते जा रहे हैं कि विनाशकारी भूमण्डलीकरण की नीतियों के बुनियादी फ्रेमवर्क से इनका कोई विरोध नहीं है। इनकी सारी कवायदें भूमण्डलीकरण के दानवी चेहरे पर 'मानवीय' मुखौटा पहनाने के लिए ही हैं।

नेवेली लिग्नाइट के विनिवेश मसले पर मनमोहन सिंह द्वारा कदम पीछे हटाने के पीछे वाम मोर्चे के दबाव के अलावा डी.एम.के. का दबाव भी अहम कारण बना। दरअसल सरकार द्वारा फायदे में चल रही इस सरकारी कम्पनी के शेयरों को पूँजीपतियों को बेचने का फैसला लेते ही इसमें कार्यरत 20,000 स्थायी मज़दूरों और लगभग 12,000 कैजुअल मज़दूरों ने मिलकर संघर्ष छेड़ दिया था। तमिलनाडु की चुनावी राजनीति में डी.एम.के. की विरोधी जयललिता की अगुवाई वाली ए.आई.डी.एम.के. मज़दूरों के असन्तोष को भुनाने में जुटी हुई थी। इस स्थिति ने डी.एम.के. नेताओं को वाम मोर्चे के घटकों के साथ मिलकर मनमोहन सिंह पर दबाव बनाने के लिए मजबूर किया। डी.एम.के. द्वारा सरकार से समर्थन वापस लेने की धमकी के बाद मनमोहन सिंह द्वारा क़दम वापस खींचने के अलावा कोई चारा नहीं था।

इस पूरे प्रकरण पर डी.एम.के. के एक नेता और यूपीए सरकार में मंत्री टी.आर. बालू ने अपनी पार्टी के नज़रिये पर जो कहा वही नज़रिया सरकारी वामपंथियों का भी हैं। उन्होंने कहा कि उनकी पार्टी विनिवेश की समूची नीति की विरोधी नहीं है। उनका जोर इस बात पर है कि विनिवेश सावधानी के साथ किया जाये और सबको एक डण्डे से न हाँका जाये। यानी अन्धाधुन्ध विनिवेश न हो। वाम मोर्चे के नेताओं का रुख भी यही है। वे भी समग्रता में भूमण्डलीकरण की नीतियों के विरोधी नहीं हैं। वे एक-एक मामले में गुण-दोष का विचार कर नीतियों को लागू करना चाहते हैं। इसलिए वाम मोर्चे के नेता देश-विदेश में घूम-घूमकर पूँजीपतियों को तो यक़ीन दिलाते हैं कि कोलकाता पूँजी निवेश के लिए सबसे सुरक्षित शहर है। इण्डोनेशिया के हत्यारे सलेम उद्योग समूह को कौड़ियों के मोल जमीन देने का सवाल हो या टाटा मोटर्स को, वाममोर्चा सरकार हर किस्म के अवरोधों को दूर करने के लिए जी-जान से जुट जाती है। बंगाल और केरल में विशेष आर्थिक क्षेत्रों को विकसित करने पर भी नीतिगत तौर पर वे सहमत हैं जहाँ पूँजीपतियों को टैक्स माफी से लेकर तमाम सुविधाएँ कौड़ियों के मोल उपलब्ध करायी जायेंगी और मज़दूर गुलामों की तरह खटें इसके लिए श्रम क़ानूनों की पाबन्दी भी हटा ली जायेगी। लेकिन विरोध का दिखावेबाजी के लिए वे श्रम क़ानूनों में बदलाव पर, कीमतों में बढ़ोत्तरी पर, अमेरिका से रक्षा समझौतों पर हो-हल्ला भी मचाते हैं। सरकारी वामपंथी मज़दूरों की गर्दन झटका मार तरीके से नहीं रेत-रेत कर काटना चाहते हैं और साथ में पीड़ाहारी बाम भी लिये घूमते हैं।

अपने इसी शातिराना रवैये के चलते वे निजीकरण- छँटनी - तालाबन्दी से बेदखल किये गये मज़दूरों और असंगठित मज़दूरों की तेजी से बढ़ती तादाद के ज़ख्मों पर मरहम लगाने के लिए सामाजिक सुरक्षा प्रावधानों को लागू करने, सार्वजनिक वितरण प्रणाली को दुरुस्त करने और रोजगार गारण्टी योजना के झुनझुने को कारगर ढंग से बजाने के लिए सरकार पर दबाव बनाये रखते हैं। लेकिन यह सोचना भूल होगी कि ऐसा वे केवल अपनी अवसरवादी चुनावी राजनीति की जरूरतों के चलते करते हैं। ये सरकारी वामपंथी और गहरा खेल खेल रहे हैं।

भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया को थोड़ा धीमा कर, उसे "मानवीय" मुखौटा पहनाकर और समय-समय पर अलग-अलग मुद्दों पर कुछ संघर्षनुमा अनुष्ठान करके वे मेहनतकश आबादी के आक्रोश को शान्त करने की कोशिश कर रहे हैं। मज़दूर वर्ग की पाँतों से निकलकर पूँजीपति वर्ग के तलुए चाटने वाले ये कम्युनिस्ट छलिये अच्छी तरह जानते हैं कि अगर जनअसन्तोष की आग पर पानी के छींटे न डाले गये तो

पेज 7 पर जारी

लेबनान की तबाही मध्यपूर्व में इजरायल – अमेरिकी गुण्डागर्दी के ताबूत में एक और कील साबित होगी

इजरायल के बर्बर हमले का असली मकसद लेबनान को एक संरक्षित क्षेत्र में बदल डालना है जिसका इस्तेमाल सीरिया और ईरान पर हमले के लिए किया जा सके

लेबनान में इजरायल के बर्बर हमले जैसे-जैसे तेज होते जा रहे हैं, वैसे-वैसे उसका असली मकसद भी साफ होता जा रहा है। अमेरिका के पूरे राजनीतिक, वित्तीय और सैनिक सहयोग से इजरायल की जियनवादी सत्ता लेबनान को एक संरक्षित क्षेत्र में बदल डालने की कोशिश कर रही है। यह सैनिक कार्रवाई मध्य पूर्व और मध्य एशिया का नक्शा बदल डालने के साम्राज्यवादी हथकंडों की ही अगली कड़ी है जिसकी शुरुआत अफगानिस्तान और इराक पर हमले से हुई थी, और जिसका लक्ष्य पूरे इलाके पर अमेरिकी वर्चस्व कायम करना है।

इस युद्ध का तात्कालिक लक्ष्य है लेबनान के भीतर हिज्बुल्ला को एक सैनिक एवं राजनीतिक शक्ति के रूप में खत्म कर डालना ताकि लेबनान पर अमेरिकी और इजरायली वर्चस्व का कोई भी जन प्रतिरोध सम्भव ही न हो। बुश प्रशासन और उसके इजरायली लठैतों की नजर में यह सीरिया में सत्ता परिवर्तन और ईरान के खिलाफ युद्ध छेड़ने के लिए एक जरूरी कदम है।

इजरायली सरकार और बुश प्रशासन लगातार बेशर्मी से दावे कर रहे हैं कि यह हमला हिज्बुल्ला द्वारा दो इजरायली सैनिकों के पकड़े जाने के बाद आत्मरक्षा में की गई कार्रवाई है, लेकिन अब तो किसी घनघोर अन्धराष्ट्रवादी इजरायली या अमेरिकी के लिए भी इस पर विश्वास करना कठिन है। हिज्बुल्ला द्वारा सैनिकों को कब्जे में लेना तो महज एक बहाना था। इस हमले की योजना लम्बे समय से तैयार की जा रही थी।

पिछले तीन सप्ताह के दौरान इजरायल ने न केवल हिज्बुल्ला के योद्धाओं के खिलाफ, बल्कि उससे भी बढ़कर लेबनान की आम आबादी पर जो भयंकर बमबारी की है उससे 2000 से भी ज्यादा लोग मारे जा चुके हैं जिनमें बड़ी तादाद में बच्चे हैं। अस्पतालों और एम्बुलेंस गाड़ियों तक पर मिसाइलें दागी गयी हैं। पूरे

पेज 7 पर जारी

आपस की बात

हमारी जिन्दगी गुलामों जैसी

कुछ दिनों पहले तक मैं नोएडा के सेक्टर-6 स्थित ब्रश बनाने वाली कम्पनी में हेल्पर के तौर पर काम करता था। काम के घण्टे थे 12 और तनख्वाह सिर्फ़ रु. 1800/-। साथ ही रोज़ाना 3-4 घण्टे ओवरटाइम करना भी जरूरी था। यहाँ पर काम करने की स्थितियाँ बहुत खराब हैं। बाकी चीजें तो छोड़ दें पानी तक साफ उपलब्ध नहीं है। ड्यूटी पर आने के बाद फैक्ट्री का गेट बन्द हो जाता है जिससे आप बाहर भी नहीं जा सकते। यहाँ आर्ट ब्रश बनाये जाते हैं। ये ब्रश लकड़ी को घिसकर बनाये जाते हैं जिससे लगातार लकड़ी का बुरादा निकलता रहता है और ये बुरादा काम करने वाले के मुँह और नाक के जरिए उसके अन्दर चला जाता है। यहाँ पर काम करने वाले पुराने मज़दूरों ने बताया कि यहाँ काम करके कुछ दिनों में ही पेट, सीने और गले की तमाम बीमारियाँ घेरने लगती हैं। बुरादा धीरे-धीरे पेट में और फेफड़ों में जमता जाता है। ऐसा माना जाता है इस खतरनाक काम को करने के बाद ज़िन्दगी के कुछ साल पक्के तौर पर कम हो जाते होंगे।

यहाँ पर मज़दूरों से गुलामों जैसा व्यवहार किया जाता है। बात-बात पर माँ-बहन की गाली देना तो आम रिवाज है। सुपरवाइजर हर वक्त सिर के ऊपर सवार रहता है और काम, और तेज और तेज करने के लिए डाँटता-फटकारता रहता है। काम कम होने पर बुरी तरह से बेइज्जत किया जाता है और हिसाब कर देने की धमकी तो लगातार दी जाती है। जब कोई मज़दूर गाली-गलौज का विरोध करता है तो उसे थप्पड़ तक जड़ दिये जाते हैं।

इस फैक्ट्री का ठेकेदार भी किसी राक्षस से कम नहीं है। ज्यादा से ज्यादा काम लेने के लिए वह खूब डराता-धमकाता है। उसे सिर्फ़ काम से मतलब है, पानी आदि के बारे में वह कहता है—यहाँ तो यही मिलेगा। यह ठेकेदार कुछ मज़दूरों को निकालता रहता है। और फिर उन्हें पैसे के लिए दौड़ाता है। थक-हारकर ज्यादातर मज़दूर निराश हो पैसे छोड़ देते हैं। जो मज़दूर ज्यादा अड़ता है उसके लिए ठेकेदार के गुण्डे तैनात रहते हैं। ये गुण्डे मारपीट कर उसे भगा देते हैं। इससे बाकी मज़दूरों में दहशत रहती है। फैक्ट्री मालिक की मिलीभगत से ठेकेदार की साँठगाँठ स्थानीय नेताओं से लेकर पुलिस तक से है। यह ठेकेदार कई मज़दूरों के पैसे हड़प चुका है और उस कम्पनी में मज़दूरों से जानवरों की तरह काम कराया जा रहा है।

मुझे भी इस फैक्ट्री से निकाल दिया गया है और ठेकेदार ने पैसे भी दबा लिये। उसने गुण्डों की धमकी भी दे दी है इसलिए अब 15 दिनों की हाड़तोड़ मेहनत का पैसा मिलने की उम्मीद भी खत्म हो चुकी है! फिलहाल मैं फिर से काम ढूँढ़ रहा हूँ।

साथी मज़दूरों से बात करके पता चला कि ये हालात तो नोएडा की लगभग सारी फैक्ट्रियों में ही हैं। इसी तरह से खूब जमकर निचोड़ा जाता है और बाद में धक्के मारकर बाहर कर दिया जाता है। इतनी खराब स्थिति में कोई कैसे ज़िन्दा रह पाएगा लेकिन सब मजबूर हैं। और इसी मजबूरी के कारण हम लोग जानवरों और गुलामों जैसी ज़िन्दगी जिये जा रहे हैं!

शिवराम, नोएडा

आज का नौजवान जड़ नहीं

बिगुल के पिछले अंक (जून-जुलाई' 06) में जितनी भी सामग्री दी गयी थी वह सभी अपने आप में बेहद महत्वपूर्ण थी। चाहे वह आरक्षण का मुद्दा हो, या सेना में महिलाओं के साथ भेदभावपूर्ण बर्ताव की बात हो, या फुटबाल के काम में बाल श्रमिकों की दुर्दशा की बात हो, सभी खबरें एक संवेदनशील मनुष्य को जरूर आज के हालात पर सोचने के लिए मजबूर कर देती हैं और आज़ादी की हकीकत को दिन के उजाले की तरह हमें दिखाती हैं। परन्तु एक बात जो सबसे ज्यादा महत्व की थी वह कि आज के ऐसे दौर में जब चारों ओर निराशा है, कहीं कोई क्रान्तिकारी विकल्प नहीं उभर रहा है ऐसे में दिशा छात्र संगठन और नौजवान भारत सभा की ओर से जो स्मृति संकल्प यात्रा की शुरुआत पूरे देश के पैमाने पर की जा चुकी है वह ही हमें उम्मीद दिलाती है कि आज का युवा बिल्कुल ही जड़ नहीं हो गया है, केवल अपने सुख के लिए ही सारी मशक्कत नहीं कर रहा है बल्कि क्रान्तिकारी विचारों को अपने जीवन में उतारने के संकल्प के साथ पूरे देश में क्रान्ति का संदेश पहुँचाने में लगा हुआ है, मैं भी इस यात्रा में शामिल होकर क्रान्ति की इस शुरुआती कोशिश को तेज करूँगा।

शिड्यूल

घोषणापत्र का प्रपत्र : प्रपत्र 1

समाचार पत्र का नाम	नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल
पत्र की भाषा	हिन्दी
आवर्तिता	मासिक
पत्र का खुदरा बिक्री मूल्य	तीन रुपये
प्रकाशक का नाम	डॉ. दूधनाथ
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	69, बाबा का पुरवा, पेपर मिल रोड, निशातगंज, लखनऊ
प्रकाशन का स्थान	निशातगंज, लखनऊ
मुद्रक का नाम	डॉ. दूधनाथ
पता	69, बाबा का पुरवा, पेपर मिल रोड, निशातगंज, लखनऊ
मुद्रणालय का नाम	वाणी ग्राफिक्स, अलीगंज, लखनऊ
सम्पादक का नाम	डॉ. दूधनाथ
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	69, बाबा का पुरवा, पेपर मिल रोड, निशातगंज लखनऊ
स्वामी का नाम	डॉ. दूधनाथ
राष्ट्रीयता	भारतीय

मैं दूधनाथ, यह घोषणा करता हूँ कि उपर्युक्त तथ्य मेरी अधिकतम जानकारी के अनुसार सत्य है।

हस्ताक्षर
(दूधनाथ)
प्रकाशक, मुद्रक, स्वामी

बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और जिम्मेदारियाँ

1. 'बिगुल' व्यापक मेहनतकश आवादी के वीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मजदूरों के वीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मजदूर आंदोलन के इतिहास और सबक से मजदूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफवाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।
2. 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मजदूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।
3. 'बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के वारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के वीच जारी वहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी वहसें लगातार चलायेगा ताकि मजदूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के वनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।
4. 'बिगुल' मजदूर वर्ग के वीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनवाजों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की कतारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी वनेगा।
5. 'बिगुल' मजदूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

जरूरी है बिगुल

मैं आपके मासिक 'बिगुल' का पाठक बनना चाहता हूँ। अपना पेपर भिजवाने का कष्ट करें। मैं मजदूर यूनियन में कार्य देखता हूँ। मेरी एक यूनियन भी है। उसका नाम समाचार पत्र होकर संघ जिला सीतापुर, दूसरे अधिष्ठान एवं वाणिज्य कर्मचारी संघ सीतापुर में पदाधिकारी भी हूँ। मेरी इच्छा है कि आपकी जनवाणी कलम द्वारा लिखा 'बिगुल' सीतापुर के श्रमजीवी पढ़कर लाभ उठा सकें।

—गया प्रसाद
सीतापुर

क्रान्तिकारियों के महत्वपूर्ण दस्तावेज

1. भगतसिंह और उनके साथियों के सम्पूर्ण उपलब्ध दस्तावेज		175.00
2. शहीदेआज़म की जेल नोटवुक	भगतसिंह	65.00
3. विचारों की सान पर	भगतसिंह	25.00
4. भगतसिंह और उनके साथियों की विचारधारा और राजनीति	विपन चन्द्र	10.00
5. अमर शहीद सरदार भगतसिंह	जितेन्द्रनाथ सान्याल	75.00
6. यश की धरोहर	भगवानदास माहौर, सदाशिवराव मलकापुरकर, शिव वर्मा	30.00
7. भगतसिंह और उनके साथी	अजय घोष, गोपाल ठाकुर	30.00
8. संस्मृतियाँ	शिव वर्मा	50.00
9. इक्कीसवीं सदी में भगतसिंह	रविभूषण	10.00
10. भगतसिंह : अनवरत जलती मशाल	राजकुमार राकेश, मनोज शर्मा	10.00
11. शहीद सुखदेव : नौघरा से फाँसी तक	डॉ. हरदीप सिंह (सं.)	20.00

सभी पुस्तकों के लिए सम्पर्क करें : जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ, फोन : 2786782

नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय : 69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006
सम्पादकीय उपकार्यालय : जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ
दिल्ली सम्पर्क : 289-सी, श्रमिक कुंज, सेक्टर-66, नोएडा
ईमेल : bigul@rediffmail.com
मूल्य: एक प्रति—रु. 3/- वार्षिक—रु. 40.00 (डाक खर्च सहित)

बिगुल

'जनचेतना' की सभी शाखाओं पर उपलब्ध :
1. डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
2. जनचेतना स्टाल, काफी हाउस बिल्डिंग, हजरतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे तक)
3. जाफरा बाजार, गोरखपुर-273001
4. 16/6, वायम्बरी हाउसिंग स्कीम, अल्लापुर, इलाहाबाद
5. जनचेतना सचल स्टाल (ठेला) चौड़ा मोड़, नोएडा (शाम 5 से 8)

मेहनतकश साथियों के लिए जरूरी कुछ पुस्तकें

कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन और उसका ढांचा —लेनिन 5/-
मकड़ा और मक्खी —विल्हेल्म लीब्कनेख्त 3/-
ट्रेड यूनियन काम के जनवादी तरीके —सर्जी ग्रेस्तोवस्की 3/-
अनश्वर है सर्वहारा संघर्षों की अग्निशिखाएं 10/-
समाजवाद की समस्याएं, पूँजीवादी पुनर्स्थापना और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति 12/-
क्यों माओवाद? 10/-
बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने के बारे में 5/-
मई दिवस का इतिहास 5/-
अक्टूबर क्रान्ति की मशाल 12/-
पेरिस कम्यून की अमर कहानी 10/-

बिगुल विक्रेता साथी से मांगे वा इस पते पर 12 रु. रजिस्ट्री शुल्क जोड़कर मनीआर्डर भेजें
जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ।

विश्व व्यापार संगठन की जिनेवा बैठक की नाकामी

एक बार फिर सौदा नहीं पट सका दुनिया के छोटे-बड़े लुटेरों के बीच

बिगुल संवाददाता

दिल्ली। विश्व व्यापार संगठन की ताज़ा जिनेवा बैठक से लौटकर वाणिज्य मंत्री कमलनाथ संसद के भीतर और बाहर सीना ठोंकते हुए शेखी बखार रहे हैं कि विश्व व्यापार संगठन की पिछली जिनेवा बैठक इसलिए नाकाम रही क्योंकि भारत की अगुवाई में तीसरी दुनिया के देशों ने अमेरिकी-यूरोपीय देशों के आगे घुटने नहीं टेके। उन्होंने देश के किसानों के हितों के साथ समझौते नहीं किये। इस बैठक की नाकामी दरअसल भारत जैसे गरीब देशों की कामयाबी है, वगैरह-वगैरह। क्या सचमुच जिनेवा में ऐसा ही हुआ? क्या सचमुच कमलनाथ और उनकी सरकार देश के आम किसानों के हितों की चिन्ता में दुबली हुई जा रही है?

अगर बात सचमुच ऐसी ही होती तो आज देश के तमाम हिस्सों में किसान कर्ज के मारे आत्महत्याएँ नहीं कर रहे होते और गरीब जनता को खाने के अनाज के लाले नहीं पड़े होते। कमलनाथ और उनकी सरकार देश की गरीब किसान-मज़दूर जनता के हितों की नुमाइन्दगी करने वाली सरकार नहीं है। वह तो इस देश के पूँजीपतियों- बड़े व्यापारियों- काला बाजारियों-सटोरियों के हितों की नुमाइन्दगी करने वाली सरकार है। इसलिए हमें कमलनाथ की बयानबाजी के बहकावें में नहीं आना चाहिए। कमलनाथ जिनेवा बैठक का बहिष्कार कर इसलिए चले आये क्योंकि अमेरिका, यूरोप और जापान के पूँजीपतियों के नुमाइन्दे तीसरी दुनिया के पूँजीपतियों को उतनी रियायतें देने के लिए तैयार नहीं थे जितना ये चाहते थे। यानी कमलनाथ को जिनेवा में देश के आम किसानों की चिन्ता नहीं सता रही थी वरन औद्योगिक व कृषि क्षेत्र के पूँजीपतियों के हितों की चिन्ता सता रही थी।

जिनेवा में विश्व व्यापार संगठन के सदस्य देशों के व्यापार मंत्रियों के बीच सम्पन्न हुई यह वार्ता वर्ष 2001 में कतर की राजधानी दोहा में शुरू हुई असमाप्त वार्ता की अगली कड़ी थी। दोहा से लेकर जिनेवा तक मुख्यतः दो मुद्दों पर दुनिया के बड़े लुटेरों यानी अमेरिका, यूरोपीय संघ और जापान तथा छोटे लुटेरों यानी भारत, ब्राजील, दक्षिण अफ्रीका जैसे एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमेरिका के छोटे लुटेरों के बीच मतभेद चले आ रहे हैं। एक है कृषि पर सब्सिडी का सवाल और दूसरा है औद्योगिक उत्पादों पर तटकर की मात्रा का सवाल।

बड़े लुटेरे चाहते हैं कि छोटे लुटेरे अपने कृषि बाज़ारों को उनकी खुली लूट के लिए खुला कर दें। छोटे लुटेरों को खुले बाज़ार के इस खेल से कोई उसूली ऐतराज नहीं है। वे अपने देशों में खुले बाज़ार का खेल खेल ही रहे हैं। लेकिन वे चाहते हैं लूट के माल में उनका हिस्सा और बढ़े। उनका कहना है कि वे अपने कृषि बाज़ारों को पूरी तरह तब खोलेंगे जब बड़े बिरादर भी अपना बाज़ार खोलें जिससे कृषि आधारित उत्पादों के अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में कृषि क्षेत्र के पूँजीपतियों की पहुँच और बढ़े। मामला यहीं फँसा हुआ है। अमेरिका, यूरोपीय संघ और जापान अपने देशों में कृषि क्षेत्र को सालाना करीब चार सौ चालीस अरब डालर सब्सिडी देते हैं। अपने कृषि क्षेत्र की इस संरक्षणवादी नीति के चलते ही ये देश कृषि उत्पादों के अन्तरराष्ट्रीय व्यापार पर अपनी पकड़ बनाये रखते हैं। इसके अलावा भी उन्होंने अपने देशों के बाज़ारों में तीसरी दुनिया के कृषि उत्पादों को घुसने से रोकने के लिए कई अन्य प्रकार की रोकें भी लगा रखी हैं। भारत, ब्राजील, दक्षिण अफ्रीका जैसे देशों की अगुवाई में तीसरी दुनिया के पूँजीपति चाहते हैं कि अमेरिका, यूरोपीय संघ और जापान अपने कृषि क्षेत्र की भारी सब्सिडी में कटौती करें और बाज़ार के अन्य प्रतिबन्धों को ढीला करें। इन बड़े लुटेरों के बीच आपसी होड़ के चलते यूरोपीय संघ तो जिनेवा बैठक में 75 प्रतिशत सब्सिडी कम करने पर राजी हो गया लेकिन अमेरिका और जापान टस से मस नहीं हुए। ऊपर से हेकड़ी दिखाते हुए उन्होंने तीसरी दुनिया के देशों के बाज़ारों में अपने कृषि मालों की घुसपैठ को आसान बनाने के लिए बची-खुची सब्सिडी सहित अन्य रोकों को हटा लेने के लिए दबाव बनाते रहे।

औद्योगिक उत्पादों के तटकरों के मामलों में भी साम्राज्यवादी बड़े बिरादर अपने छोटे बिरादरों के साथ यही पाखण्डपूर्ण जोर-जबर्दस्ती का रवैया अपनाये रखे। दोहा बैठक से लेकर जिनेवा तक बड़े बिरादर विश्व पूँजीवादी तंत्र के छुटभैय्यों पर लगातार यह दबाव बनाये हुए हैं कि वे अपने देशों में औद्योगिक वस्तुओं के आयात पर मात्रात्मक प्रतिबन्धों को पूरी तरह हटा लें और आयात शुल्कों में भारी कटौती करें। इस मुद्दे पर अब तक चली सौदेबाजी में तीसरी दुनिया के देश साम्राज्यवादियों को काफ़ी रियायतें पहले ही दे चुके हैं लेकिन वे अभी सन्तुष्ट नहीं हैं। वे पूरा आत्मसमर्पण चाहते हैं जो तीसरी दुनिया के पूँजीपतियों को स्वीकार्य नहीं है। वे इस मसले पर कुशलता के साथ अमेरिका व यूरोपीय संघ के अन्तरविरोधों का भी लाभ उठा रहे हैं। इसीलिए उनकी सरकारें विश्व व्यापार संगठन में तगड़ी सौदेबाजी कर रहे हैं। दूसरी ओर इस मामले में भी दोहरापन दिखाते हुए साम्राज्यवादी देश अपने बाज़ारों की बाधाओं को खोलने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं हैं। नतीजतन बार-बार वार्ताएँ टूट रही हैं और गतिरोध दूर नहीं हो रहा है।

गला फाड़-फाड़ कर मुक्त व्यापार की चीखपुकार मचाना पर अपने देशों में संरक्षणवादी हथकण्डों को लागू करना—साम्राज्यवादियों का यही असली चरित्र है। साम्राज्यवादियों का यह रवैया कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। पूँजी की दुनिया में बराबरी या किसी भी प्रकार की न्यायशीलता के लिए कोई स्थान नहीं होता। यहाँ 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का सिद्धान्त चलता है। विश्व व्यापार संगठन जैसे अन्तरराष्ट्रीय मंचों पर वार्ताओं के नाम पर इस बात के लिए सौदेबाजियाँ चलती हैं कि दुनिया की मेहनतकश जनता की लूट के माल का कितना बड़ा हिस्सा किसको मिले। जब वार्ताओं की मेजों पर निपटारा नहीं होता तो हथियारों के जोर पर होता है। पिछली शताब्दी में दो-दो विश्व युद्ध दुनिया के बाज़ारों पर कब्जे के लिए ही हुए हैं। पूँजीवादी दुनिया के उसूल ही यही हैं। इसी तरह, पूँजीपतियों के राजनीतिक नुमाइन्दों का यह चारित्रिक गुण होता है कि वे अपने हर सही-गलत फैसले जनता के नाम पर उसकी दुहाई देते हुए ही लेते हैं। जबकि ऐसे हर फैसले के पीछे पूँजीपति वर्ग के तात्कालिक या दूरगामी हित छिपे होते हैं। फिर कमलनाथ यह कैसे कहेंगे कि जिनेवा में उन्होंने भारत के पूँजीपतियों के हितों की रखवाली करने की खातिर बैठक का बहिष्कार किया। अपनी इस बहादुरी के लिए वह किसानों के हितों की दुहाई देने का मौका भला क्यों चूकें?

'घूस को घूँसा' दिखाकर असली गुनहगार को बचाने की कवायद

भ्रष्टाचार मिटाना है तो पूँजीवाद को मिटाना होगा!

विशेष संवाददाता

लखनऊ। जुलाई के पहले पखवारे में देश में सक्रिय एन.जी.ओ. नेटवर्क (तथाकथित गैर सरकारी संस्थाओं के नेटवर्क) ने सरकारी दफ़्तरों में फैली 'घूसखोरी को घूँसा' मारने का अभियान इस जोशीले अन्दाज़ में चलाया मानो उन्हें सूचना के अधिकार के रूप में कोई अमोघ अस्त्र मिल गया हो। सूचना के अधिकार के प्रति लोगों में जागरूकता फैलाने के लिए जगह-जगह रैलियाँ निकाली गयीं, शिविर आयोजित किये गये और गोष्ठियाँ-सेमिनार हुए। अखबारों और टीवी चैनलों ने इस अभियान को जबर्दस्त कवरेज दी। पन्द्रह दिनों तक लगातार ऐसे उदाहरणों की खबरें बनतीं रहीं कि फलाँ-फलाँ का फलाँ काम फलाँ सरकारी दफ़्तर में अटका पड़ा था और सूचना के अधिकार के तहत अर्जी देने के बाद कैसे वह काम आनन-फानन में पूरा हो गया। मीडिया में 'घूस को घूँसा' अभियान का तीर-तूमार कुछ ऐसा बाँधा गया कि देश की निरंकुश नौकरशाही की नाक में नकेल बँधकर रहेगी।

लेकिन लगातार एक पखवारे तक 'घूस को घूँसा' मारते-मारते एन.जी.ओ. वाले अभी अपनी थकान भी ठीक से उतार नहीं पाये थे कि घाघ नौकरशाही ने अपना कमाल दिखा दिया। सरकार ने तुरत-फुरत घोषणा कर दी कि सूचना के अधिकार क़ानून का बेजा इस्तेमाल हो रहा है इसलिये वह इसमें संशोधन के लिए संसद के मानसून सत्र में ही प्रस्ताव पेश करेगी। इस संशोधन का ड्राफ्ट भी फटाफट तैयार कर लिया गया। इसके तरह अब किसी सरकारी विभाग से यह सूचना तो हासिल की जा सकती है कि अमुक काम हुआ या नहीं लेकिन यह जानकारी अब नहीं मिल पायेगी कि क्यों नहीं हुआ। फाइल पर सम्बन्धित अफ़सर ने क्या टिप्पणी लगायी है या उसका एतराज़ क्या है! अब बेचारे एन.जी.ओ. वालों के समाने इसके सिवा कोई चारा नहीं बचा कि इस सरकारी अड़ंगेबाजी के खिलाफ़ एक नयी मुहिम छेड़ दें।

एन.जी.ओ. वालों और सरकार के बीच छिड़ी इस नयी 'जंग' में कौन जीतेगा यह आने वाले दिनों में पता ही चल जायेगा। ज्यादा सम्भावना यही है कि नौकरशाही अपने निरंकुश साम्राज्य को बचाने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक कर देगी और एन.जी.ओ. वाले हवा में मुट्ठियाँ लहराते रह जायेंगे। आखिर हमारी नौकरशाही की रगों में ब्रिटिश काल की नौकरशाही का खून जो बह रहा है! 1947 में राजनीतिक सत्ता हासिल करने के बाद देश के पूँजीपति वर्ग ने ब्रिटिश नौकरशाही तंत्र की विरासत को काफ़ी सोच-समझ कर अपनाया था। ऊपर से नीचे की ओर नियंत्रण की प्रणाली और राजसी सुविधाओं और विशेषाधिकारों की समूची व्यवस्था को लगभग हूबहू अपनाये बिना पूँजी की बर्बर लूट के तंत्र को चलाना सम्भव ही न होता। इसलिए संविधान व क़ानून बनाने वालों ने ब्रिटिश नौकरशाही तंत्र की आत्मा को जस का तस रहने दिया। भारतीय दण्ड संहिता और आपराधिक प्रक्रिया संहिता सहित तमाम क़ानूनों की व्यवस्था को बने रहने दिया क्योंकि जनता के ऊपर 'गोरे साहबों की जगह भूरे साहबों' की हुकूमत जो कायम करनी थी। ऐसे में एन.जी.ओ. वाले लाख उछलकूद मचा लें सरकार नौकरशाही को नाराज़ करने का जोखिम नहीं मोल ले सकती।

लेकिन अगर बात सचमुच ऐसी ही है तो फिर यूपीए सरकार ने सूचना के अधिकार कानून को लागू ही क्यों किया? क्या सरकार सचमुच सरकारी तंत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार या गैरकानूनी लूट को समाप्त करना चाहती है? सरकारों द्वारा समय-समय पर उठाये जाने वाले कुछ क़दमों, भ्रष्टाचार निरोधक क़ानूनों आदि से तो ऐसा ही लगता है! लेकिन चीजें ऊपर से जैसी दिखायी पड़ती हैं असलियत में हमेशा वैसी होती नहीं। यह आम तजुर्बे की बात है। बात चाहे सूचना के अधिकार या उपभोक्ता जागरूकता आन्दोलन की हो, न्यायिक सक्रियता या सुधारों की हो या किसी शेषन-खैरनार, के.जी. राव या अन्ना हजारे जैसों की कार्रवाइयों की हो—ये सब आन्दोलन और कार्रवाइयाँ दरअसल देश की पूँजीवादी व्यवस्था के वीभत्स-कुरूप चेहरे को चमकाने की कवायदें हैं ताकि जनता के कोप-कहर से बचाते हुए देश की पूँजीवादी व्यवस्था की उम्र को बढ़ाया जा सके।

आज राजनीति और शासन-प्रशासन तंत्र में फैला व्यापक भ्रष्टाचार जनता की दुखती रग है। पिछले दिनों विभिन्न चैनलों के स्टिंग आपरेशनों ने सांसदों-विधायकों की कमीशनखोरी-घूसखोरी और अय्याशी के तथा सरकारी महकमों में व्याप्त भ्रष्टाचार के जीते-जागते प्रमाणों को सनसनीखेज और बिकाऊ माल बनाकर पेश किया। इसके बाद कुछ सांसदों-अफ़सरों के खिलाफ़ कार्रवाइयों की कवायदें भी हुईं। इससे जनता के अन्दर यह झूठी उम्मीद भी पैदा हुई कि भ्रष्टाचार

पेज 4 पर जारी

पूर्वांचल क्षेत्र की जनता पर जापानी इंसेफेलाइटिस बुखार का कहर बरपा

इस नरभक्षी व्यवस्था और उसकी परजीवी जमातों के सामने आम जनता के जीवन की कोई कीमत नहीं!

बिगुल संवाददाता

गोरखपुर और उसके आस-पास पूर्वांचल के क्षेत्रों में जापानी बुखार 'इंसेफेलाइटिस' ने एक बार फिर अपनी पूरी शक्ति के साथ हमला बोल दिया है। अकेले गोरखपुर के बी.आर.डी. मेडिकल कालेज में ही पिछले पन्द्रह दिनों में इंसेफेलाइटिस के लगभग 75 मरीज भर्ती हो चुके हैं जिसमें 6 मरीज जान गँवा चुके हैं और लगभग 36 मरीज ज़िन्दगी और मौत के बीच झूल रहे हैं। मरीजों के आने का सिलसिला जारी है। उनकी संख्या में हर रोज़ इजाफा हो रहा है। जाहिर है दूसरे इलाकों में भी इसका क़हर बरपा हो रहा है। इस बीमारी की चपेट में गोरखपुर के अलावा कुशीनगर, सन्तकबीर नगर, सिद्धार्थनगर, देवरिया, बस्ती जैसे इलाके सर्वाधिक आते हैं। जहाँ धान की खेती के लिए पानी से भरे खेत मच्छरों की शरणस्थली बनते हैं।

सरकारी अमले की संवेदनहीनता

ऐसा नहीं है कि यह रोग और इससे उत्पन्न संकट कोई नया है। विगत 27 वर्षों से हर साल बरसात शुरू होते ही मुख्यतः उत्तर प्रदेश के इस इलाके में यह अपना पाँव पसारना शुरू कर देता है और सैकड़ों लोगों को लील जाता है। ऐसा भी नहीं है कि इस संक्रामक रोग के पैदा होने और फैलने के कारणों की जानकारी सूबे और महकमे के आला अधिकारियों को नहीं है। लेकिन इसके निदान व रोकथाम के कारगर उपायों को लागू करने में हर हमेशा की तरह इस बार भी भयंकर और जानलेवा लापरवाही बरती जा रही है। स्थिति की गम्भीरता का अन्दाज़ा सिर्फ़ एक इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि पिछले मई के महीने में गोरखपुर में जापानी इंसेफेलाइटिस के जिस टीकाकरण अभियान के जोर-शोर से सफलतापूर्वक सम्पन्न होने का प्रशासनिक दावा किया गया उसके बारे में आम आबादी को जानकारी तक नहीं हो पायी। अभिभावक अपने बच्चों को लेकर टीकाकरण बूथों के बारे में पता करने के लिए घण्टों दौड़ते रहे। हद तो यह थी कि अभिभावकों द्वारा बूथों का पता पूछने पर भी कोई अधिकारी वह स्थल स्पष्ट रूप से बताने में सक्षम नहीं हो सका। महानगर में कहाँ-कहाँ बूथ बने हैं इसकी अधिकृत जानकारी शायद ही किसी अधिकारी हो रही हो। ऐसे किसी अभियान का समुचित प्रचार-प्रसार होना चाहिए था। लेकिन अपनी इस ज़िम्मेदारी से मुँह मोड़ते हुए (प्रचार के मद के पैसे की बन्दर-बाँट फिर कैसे हो पाती?) खुद टीकाकरण प्रभारी, डिप्टी सी.एम.ओ. का जो वक्तव्य आया वह न केवल हास्यास्पद और गैर-ज़िम्मेदाराना बल्कि सरकारी चिकित्सा तंत्र की संवेदनहीनता का एक ज्वलन्त प्रमाण भी था। उनका कहना था कि अखबारों में इस टीकाकरण का समाचार निकला है। जैसे कि इस पिछड़े, अशिक्षित, क्षेत्र की आम जनता अखबारों की नियमित पाठक होती है।

अस्पतालों की दुर्दशा

बीते वर्ष गोरखपुर मण्डल में जब इस रोग के बाहर से सैकड़ों बच्चे काल के गाल में समा गये और मामले ने तूल पकड़ा तो अन्य मासूमों की ज़िन्दगी बचाने का कोई फौरी कारगर उपाय करने की जगह प्रदेश के शासन-प्रशासन का पूरा अमला खुद की चमड़ी बचाने की कवायद में जुट गया। लोगों तक बच्चों के भारी तादात में मरने की सूचना पहुँचने से रोका गया। जिला अस्पतालों को निर्देश दिया गया कि वे मरीजों को राजधानी के संजय गाँधी अस्पताल में रेफर न करें। जिला अस्पतालों की हालत किस कदर दयनीय है यह जगजाहिर है। यहाँ बदहाली का यह आलम है कि खुद गोरखपुर के सुभाष चन्द्र बोस जिला अस्पताल में आवारा पशु वार्डों में घूमते रहते हैं। यहाँ कुत्ते मरीज के बेड पर आराम फार्माते हैं, इतना ही नहीं किसी मरीज के खुले घावों से टपकते खून को चाटते उन्हें देखा जा सकता है। न रोजमर्रा के जरूरी उपकरण हैं न दवाएँ। टीकाकरण की दवाओं व जाँच वाले उपकरणों की तो बात ही क्या की जाये! चिकित्सीय कर्मचारियों व खुद चिकित्सकों की संख्या भी अपेक्षाओं से काफी कम है। अस्पतालों से निकलने वाले कचरे से वहाँ गन्दगी का साम्राज्य फैला होता है। कमोबेश यही बल्कि सच कहें तो इससे भी बदतर हालात अन्य सरकारी अस्पतालों के हैं, यहाँ यह भूला नहीं जा सकता कि ऐसे ही एक जिला अस्पताल में इंसानों के प्रयोग में आने वाली दवाओं के नाम पर पशुओं को लगने वाली दवाएँ खरीदी गयी थीं।

गोरखपुर मेडिकल कालेज में भी सुविधाओं की यह हालात है कि यहाँ इंसेफेलाइटिस के मरीजों के लिए पर्याप्त वार्ड नहीं हैं। इस रोग की पहचान के लिए खून के समुचित जाँच की व्यवस्था व जरूरी मेडिकल उपकरण व इससे निपटने के लिए पर्याप्त मात्रा में दवाएँ तक मौजूद नहीं हैं।

बीमारी का कहर नहीं शिशुसंहार

इन हालात में मरीजों को लखनऊ मेडिकल कालेज (जहाँ थोड़ी सुविधाएँ हासिल हैं) में पहुँचने से रोकने का निर्देश जारी करना सोच समझ कर किया जाने वाला एक जघन्य हत्याकाण्ड नहीं तो और क्या है। जैसे इतना ही काफी न हो इस सूबे के मुखिया श्रीमान मुलायम सिंह यादव ने केन्द्र से इंसेफेलाइटिस के टीके की माँग रखी (जबकि उसके पहले ही राज्य सरकार को दो लाख टीके केन्द्र से मिल चुके थे और उसका कोई इस्तेमाल नहीं किया गया था) और आनन-फानन में ये टीके रोगियों को लगा दिये गये। जाहिरा तौर पर उनका बेअसर रह जाना लाजिमी था, क्योंकि यह बीमारी तब तक फैल चुकी थी और ये टीके बरसात के पहले, संक्रमण रोग के शुरू होने के पहले, लगने चाहिये थे। इस घिनौनी अश्लील नौटंकी में रटे-रटाये लोक लुभावन व सस्ती किस्म की डायलॉगबाजी भी खूब हुई। चतुर सुजान मुख्यमंत्री ने कहा—इंसेफेलाइटिस की रोकथाम के लिए व्यापक उपाय किए जायेंगे, नवम्बर तक टीकाकरण अभियान काम पूरा कर लिया जायेगा, गोरखपुर मेडिकल कालेज को सुविधा-सम्पन्न बनाने के लिए सरकारी फण्ड की कमी नहीं होने दी जायेगी। मण्डल के मुख्य चिकित्साधिकारियों ने एक बैठक की और कहा—मच्छर प्रभावित क्षेत्रों में विशेष प्रकार की 'गघुसिया' मछली का पालन कराया जाये। यह मछली मच्छर के लार्वा को खाकर खत्म कर देगी आदि-आदि। केन्द्र का स्वास्थ्य मंत्रालय भी 'डायलॉग डिलीवरी' में पीछे नहीं रहा। उसने कहा—विश्व स्वास्थ्य संगठन और अमेरिकी संक्रामक रोग संस्थान ने इस रोग से निपटने के लिए मदद की पेशकश की है मगर राज्य सरकार ने अभी तक उस पर ध्यान देना उचित नहीं समझा है। इन सारे बयानबाजियों और घोषणाओं का वहीं अंजाम हुआ जो अपेक्षित था। नौटंकी का चरम दृश्य था बीमारी का इस बार फिर एक प्रचण्ड शक्ति के साथ लौटना और पूरे इलाके को अपने खूनी पंजों में दबोच लेना।

यह जगजाहिर है कि यह रोग मच्छरों के काटने या दूषित पेयजल की वजह से फैलता है। मच्छर इंसेफेलाइटिस के विषाणुओं का वाहक होता है। ये विषाणु सूअर के लार में पाये जाते हैं और उसके शरीर में अपना जीवन चक्र पूरा करते हैं। इसलिए जब मच्छर ऐसे सूअरों को काटने के बाद मनुष्य को काटता है तो वे विषाणु रक्त के जरिये उसके मस्तिष्क तक पहुँच जाते हैं। सूअर के लार से ये विषाणु बरसाती पानी में आसानी से मिल जाते हैं। इसलिए इस बीमारी से रोकथाम के लिए बरसात शुरू होने के पहले ही प्रतिरोधक टीके मनुष्यों व सूअरों को लगाना व पानी जमा होने वाले स्थानों पर मच्छरों से बचाव के लिए दवा का छिड़काव करना आवश्यक होता है। पर इस बार भी घोषणाओं और बयानबाजियों का सिलसिला शुरू हो चुका है। रोकथाम के लिए आला अफसरों के सुझाव आ रहे हैं। विधायकों से लेकर मंत्रियों तक का दौरा शुरू हो चुका है। हर ऊपर का अधिकारी अपने से नीचे को फटकार रहा है। पर नतीजा क्या रहा। वही ढाक के तीन पात।

मेहनतकशों की सत्ता ही जनस्वास्थ्य की जिम्मेदारी उठा सकती है

बात बिल्कुल साफ़ है। इस नरभक्षी व्यवस्था और उसके परजीवी जमातों से आम अवाम की ज़िन्दगी बचाने की कोई उम्मीद पालना खुद को भ्रम में रखना होगा। शिक्षा और स्वास्थ्य की सारी सुविधायें जब सब कुछ खरीद सकने वाले मुट्ठीभर लोगों के लिए हो चली हैं और सरकारें अपने सामाजिक कल्याणकारी दायित्व से मुँह मोड़कर इन क्षेत्रों के निजी मुनाफ़ाखोरों के लिए जब खुला छोड़ चुकी हैं तब इनसे यह उम्मीद नहीं की जा सकती है कि आम जनता के स्वास्थ के लिए ये वाकई व्यापक और कारगर ढाँचा खड़ा करने की दिशा में कोई ठोस कदम उठायेंगी। खासकर इसलिए भी कि इसका आसान शिकार गाँवों और मज़दूर बस्तियों में रहने वाली गरीब आबादी बनती है जो आर्थिक तंगी व सवारी के अभाव में ठीक समय पर स्वास्थ्य केन्द्रों या अस्पतालों में नहीं पहुँच पाती और दवा के अभाव में दम तोड़ देती है। पूँजी की सत्ता के नज़रों में गरीबों की जान की वैसे भी कोई कीमत नहीं होती इस व्यवस्था को बनाये रखने में वे तो महज वोटों की एक संख्या भर हैं।

सच्चाई यही है कि इस पूँजीवादी व्यवस्था को चलाने वाले मुनीमों को अगर अपने वोट बैंकों के लिए आपस में घमासान न करना हो तो वे बयानबाजियों व ऐलानों, नौकरशाहों को डाँटने-डपटने अथवा एक दूसरे पर सच्ची-झूठी तोहमतें मढ़ने की जहमत भी न उठायें। किन्हीं कारगर उपायों को लागू करने की बात तो दूर रही।

इंसेफेलाइटिस व उस जैसे अन्य महामारियों की मौजूदगी तथा आम जन के लिए जरूरी स्वास्थ्य सुविधाओं की गैर-मौजूदगी के असली कारणों की पड़ताल करने के लिए हमें यह देखना होगा कि उत्पादन, राजकाज और समाज के ढाँचे पर किन लोगों का कब्जा है। ये वही लोग हैं जो बाज़ार और मुनाफ़े का खेल खेल रहे हैं। इस खेल में चीजों का उत्पादन इसलिए हो रहा है ताकि उसे बाज़ार में बेचकर अपनी तिजोरी भरी जा सके। इससे समाज की बुनियादी जरूरतें भले न पूरी होती हों। जाहिर है आम जन के स्वास्थ का सवाल भी तभी हल होगा जब इस पूरे तंत्र पर ऐसे लोग काबिज हों जो चीजों का उत्पादन समाज की बुनियादी जरूरतें पूरी करने के लिए करते हों न कि बाज़ार व मुनाफ़े की खातिर। तभी स्वास्थ्य की देखभाल व्यक्तिगत नहीं बल्कि राज्य की ज़िम्मेदारी बन सकेगी।

पेज 3 से आगे

'घूस को घूँसा' दिखाकर...

जैसी बुराइयों को नियंत्रित कर पूँजीवादी व्यवस्था को जनहितकारी बनाया जा सकता है। जबकि असलियत यह है कि भ्रष्टाचार-मुक्त पूँजीवाद की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

दरअसल, भ्रष्टाचार और अनैतिकता पूँजीवादी व्यवस्था की मूलभूत बीमारी नहीं बल्कि इसका 'बाईप्रोडक्ट' है। हर किस्म का पूँजीवाद मेहनतकश जनता के श्रम की "क़ानूनी" लूट पर ही टिका होता है। पूँजीपतियों द्वारा श्रम को लूटकर मुनाफ़ा कमाना सभी पूँजीवादी देशों में एक 'क़ानूनी' क्रिया-व्यापार होता है और पूँजीवादी सरकारें लूट के इसी क़ानूनी करोबार का प्रबन्धन करने का काम ही करती हैं। सोचने की बात है कि जो राजनेता, प्रशासक और बुद्धिजीवी इस लुटेरी पूँजीवादी व्यवस्था की ही चाकरी करते हैं वे भला नैतिक और ईमानदार क्यों बनें? क्या कुत्तों से 'चमड़े की टाटी' की ईमानदारी से रखवाली करने की उम्मीद की जा सकती है? व्यवस्था के ये सेवक और पहरेदार भी अपने कानूनी विशेषाधिकारों और सुख-सुविधाओं से ही भला क्यों सन्तुष्ट हों? इसलिए वे हर सम्भव रास्ते से घूस, धोखाधड़ी और ठगी के ज़रिये मालामाल हो जाना चाहते हैं। चूँकि शासक वर्ग की संस्कृति ही समाज की प्रभावी संस्कृति होती है इसलिए पूँजीवादी समाज में आम जनता भी पूँजीवादी लोभ-लाभ और गलाकाटू होड़ की संस्कृति की गिरफ्त में होती है। नतीजतन नौकरशाही तंत्र के निचले पायदानों पर खड़े सरकारी कर्मचारी-बाबू-चपरासी आदि भी घूसखोरी की पूँजीवादी संस्कृति के रंग में रँग जाते हैं और सामर्थ्य भर लोगों की गाँठ ढीली करने में पीछे नहीं रहते।

कहने का मतलब यह कि पूँजीवादी समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार और घूसखोरी अलग से कोई बीमारी नहीं है। क़ानूनी लूट की कोख से ही गैरक़ानूनी लूट जनमती है। हालाँकि पूँजीपति वर्ग चाहत तो यह है कि नेता, अफ़सर अपनी ऊँची तनख्वाहों और सुविधाओं से ही सन्तुष्ट रहे, व्यापारी कालाबाज़ारी न करें, सट्टाबाज़ार अनियंत्रित जुआघर का रूप न ले ले, काले धन की समानान्तर अर्थव्यवस्था न हो और कारखानों में मुनाफ़ा निचोड़ने का काम सुचारु रूप से चलता रहे। लेकिन ये सारी प्रक्रियाएँ पूँजीवादी व्यवस्था में पूँजीपति वर्ग की इच्छा से स्वतंत्र, मौजूद रहेंगी और समय-समय पर स्वयं उसके लिए समस्या बनती रहेंगी।

पूँजीवादी समाज में जब ये समस्याएँ अपने अति पर पहुँच जाती हैं और व्यवस्था के लिए ही सिरदर्द और संकट बन जाती हैं तो समय-समय पर वह स्वयं अपने सिद्धान्तकारों, शीर्ष राजनीतिक प्रतिनिधियों, न्यायापालिका और मीडिया को माध्यम बनाकर इनपर अंकुश लगाने का काम करती है। अपने दामन पर लगे दाग-धब्बों को वह स्वयं समय-समय पर साफ़ करती रहती है तथा अपने खुले एवं गुप्त रोगों का इलाज करने की कवायदें करती दिखायी देती हैं। सूचना का अधिकार क़ानून भी ऐसा ही क़ानून है। लेकिन

पेज 9 पर जारी

मुरझाते बचपन के जीवन में हरियाली लाने की जिम्मेदारी मेहनतकश वर्ग को अपने कन्धों पर उठानी होगी

कहते हैं बच्चे इस देश के भावी कर्णधार हैं और इन भावी कर्णधारों के कन्धों पर ही इस देश का भविष्य टिका हुआ है—यह बात स्कूलों में विभिन्न अवसरों पर बच्चों को बतायी भी जाती है। लेकिन जैसे ही इन भावी कर्णधारों की शिक्षा व्यवस्था पर नज़र डाली जाती है तो पता चलता है कि ये भावी कर्णधार अमीरी-गरीबी के दो हिस्से में बँटे हुए हैं। एक की शिक्षा के लिए सरकारी स्कूल है और दूसरे के लिए निजी स्कूल। सरकारी स्कूल उन बच्चों के लिए हैं जिनके माँ-बाप अपने जीवन की बुनियादी सुविधाएँ जुटाने में ही अपनी ज़िन्दगी खत्म कर देते हैं। बच्चों के लिए फीस, कॉपी, किताब, यूनीफार्म जुटाने की वे सोच भी नहीं सकते। इन बच्चों के लिए सरकार द्वारा जो सरकारी स्कूल चलाये जाते हैं अब जरा उनकी स्थिति पर नज़र डाल लें तो यह बात शीशे की तरह साफ हो जायेगी कि इन भावी कर्णधारों के लिए सरकार ने कितनी तैयारियाँ कर रखी है और उसका कितना ख्याल रखा जाता है।

राष्ट्रीय शैक्षणिक योजना और प्रशासन संस्थान द्वारा किये गये एक सर्वेक्षण में जो तस्वीर उभरकर सामने आयी है उससे पता चलता है कि इस देश की प्राथमिक शिक्षा व्यवस्था तिहाई स्कूलों की इमारतें पक्की नहीं

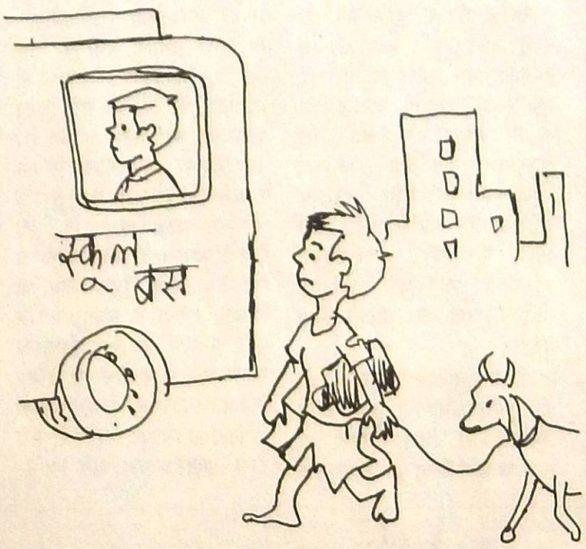

अपने बुनियादी ढाँचे से ही वंचित है ऐसे में इससे बेहतर नतीजों की उम्मीद कैसे की जा सकती है?भारत में कुल दस लाख चार हजार स्कूलों में से लगभग एक लाख ग्यारह हजार स्कूल खुले आसमान के नीचे चलते हैं और लगभग इतने ही स्कूल एक कमरे से काम चलाते हैं। लगभग एक है और इतने ही अन्य स्कूलों के भवन भी खस्ता हालत में हैं। ग्रामीण इलाकों में चलने वाले सरकारी स्कूलों की हालत और भी दयनीय है।

सर्वेक्षण में यह बताया गया है कि वर्ष 2005 में देश के 29 राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेशों के 10.+ लाख स्कूलों में से 21 फीसदी छात्रों के लिए शौचालय की व्यवस्था नहीं थी, 47 फीसदी स्कूलों में विद्यार्थियों के लिए साझा शौचालय हैं और इनका इस्तेमाल 6 से 18 साल के उम्र के विद्यार्थी करते हैं। छत्तीसगढ़ और उत्तराखण्ड की स्थिति तो और भी खराब है जहाँ 88 और 80 फीसदी विद्यालयों में शौचालय की सुविधा ही नहीं है। सिर्फ 21 फीसदी विद्यालयों में नल का पानी उपलब्ध है, 46 फीसदी स्कूलों में हैण्डपम्प लगाये गये हैं जबकि छह फीसदी स्कूल ऐसे हैं जहाँ छात्रों को खुद कुएँ से पानी निकालना पड़ता है। यह सर्वेक्षण 693000 प्राइमरी स्कूलों, 71 हजार उच्च प्राथमिक स्कूलों और 57 हजार प्राथमिक और उच्चतर माध्यमिक स्कूलों में किया गया। सर्वेक्षण के दायरे में शासित स्कूलों में से 97 फीसदी स्कूल सरकारी क्षेत्र के थे।

सर्वे रिपोर्ट के अनुसार आठ फीसदी स्कूलों में ब्लैकबोर्ड नहीं है, 27,388 स्कूलों में एक भी शिक्षक नहीं हैं, 60 फीसदी माध्यमिक स्कूलों में लड़के और लड़कियाँ साझे शौचालय का इस्तेमाल करते हैं।

इस देश की प्राथमिक स्तर की शिक्षा व्यवस्था छत, भवन, शौचालय पानी, शिक्षक के बिना ही चलती है और यहाँ तैयार किये जाते हैं इस देश के भावी कर्णधार। प्राथमिक शिक्षा व्यवस्था की इस नंगी तस्वीर से एक बार फिर साबित होता है कि मुँह में चाँदी का चम्मच लेकर पैदा होने वाले पन्द्रह प्रतिशत बच्चों का स्वर्ग इस व्यवस्था में है और उन्हें ही इस देश के भावी कर्णधार के रूप में तैयार किया जा रहा है। जिनके लिए तमाम सुविधाओं से मुक्त निजी स्कूल खुलते जा रहे हैं। जहाँ केवल वही जा सकते हैं जिनके जेब में पैसा हो। बाकी 85 फीसदी बच्चों के लिए वे सरकारी स्कूल हैं जहाँ भवन, शौचालय, पानी, शिक्षक जैसी बुनियादी जरूरत की भी चीज मौजूद नहीं है।

यह दोहरी शिक्षा व्यवस्था बताती है कि मुट्ठीभर लोगों के लिए स्वर्ग का निर्माण करने वाली मेहनतकशों के बच्चों के हिस्से में केवल अशिक्षा, गैरबराबरी और भुखमरी ही है। इस स्थिति को बदलने और अपने बच्चों के भविष्य को सँवारने की ज़िम्मेदारी अब इस देश के मेहनतकश वर्गों के कन्धों पर ही है और उन्हें अपनी इस जिम्मेदारी को उठाना ही होगा और मुरझाते बचपन के जीवन में हरियाली लाने के लिए कमर कसना होगा।

—सुजाता

मजदूरों को अपने 'प्रिंसों' को बचाना होगा

हरियाणा के कुरुक्षेत्र में, पाँच वर्षीय प्रिंस को पचास फीट गहरे और छह इंच व्यास वाले गड्ढ़े से निकाला जा चुका है। उस बच्चे के साथ यह खतरनाक हादसा इसलिए हुआ क्योंकि नलकूप लगाने के लिए जो गड्ढ़ा खोदा गया था उसे असुरक्षित छोड़ दिया गया था। उसे बचाया इसलिए जा सका कि वह अपने दोस्तों के साथ खेल रहा था और खेलते-खेलते उस गड्ढ़े में उसे गिरते हुए उसके दोस्तों ने देखा था। अगर वह अकेले खेल रहा होता तो उसके गड्ढ़े में गिरने की जानकारी भी शायद ही किसी को हो पाती और लोगों की सुरक्षा के प्रति तंत्र के इस गैर ज़िम्मेदाराना बर्ताव या व्यक्तिगत लापरवाही की कीमत उसे अपनी जान देकर चुकानी पड़ती। इस मामले में प्रिंस भले ही बच गया हो लेकिन पिछले कुछेक वर्षों में ऐसे कई बच्चों को इस तरह के खुले असुरक्षित बोरवेल के गड्ढ़े से जीवित नहीं निकाला जा सका।

पाटन जिले के दो वर्षीय अजय; बड़ोदरा के 16 वर्षीय रंजीत को और अभी पिछले अप्रैल को केरल के प्रफुल्ल को, जो इसी तरह खेलते हुए 300 फीट गहरे बोरवेल के गड्ढ़े में जा गिरा था, और इस निष्ठुर प्रशासकीय लापरवाही का खामियाजा उसे अपनी जान देकर भरना पड़ा। ये बच्चे अधिकतर मज़दूर या ग्रामीण आबादी के बीच से आये थे। प्रिंस भी एक मज़दूर का ही बेटा था। जाहिर है मानवद्रोही पूँजीवादी व्यवस्था में गरीब और मेहनतकश तो कीड़े-मकोड़ों की तरह मरने के लिए होते हैं। तथाकथित लोक सुरक्षा के दायरे में तो केवल थैलीशाह, नौकरशाह और सत्ताधारी आते हैं। जान-माल की पूरी सुरक्षा तो ऊपर के इन्हीं 20 प्रतिशत लोगों के लिए होती है। ऐसी घटनाएँ तो अक्सर घटती रहती हैं जब सीवर के खुल मेन होल में गिरकर आम जिन्दगियाँ दफन हो जाती हैं, मेन होल में उतरने वाले सफाई कर्मचारियों को कई बार सुरक्षा उपायों के अभाव में अपनी जान गँवानी पड़ती है। और पूरा का पूरा प्रशासन तंत्र तब ऐसी घटनाओं की लीपापोती में जुट जाता है। घटनाओं की पुनरावृत्ति को रोकने की जगह अपने नौकरशाहों को बचाने में पूरी ताकत लगा दी जाती है और हादसे के शिकार व्यक्ति अथवा उसके परिवार को राहत देने के नाम पर कुछ टुकड़े फेंककर उनका मुँह बन्द कर दिया जाता है। प्रिंस के मामले में भी यही हुआ है। (वैसे भी आसन्न चुनावों के मद्देनज़र राहत की रेवड़ी बाँटना शासकों की मजबूरी बन गई है)

अब भले ही उसकी जीवन परिस्थितियाँ थोड़े दिनों के लिए सुधर गयीं हों लेकिन मज़दूर परिवार से आने वाले उसके जैसे तमाम बच्चों को अपना श्रम बेचकर दिन रात

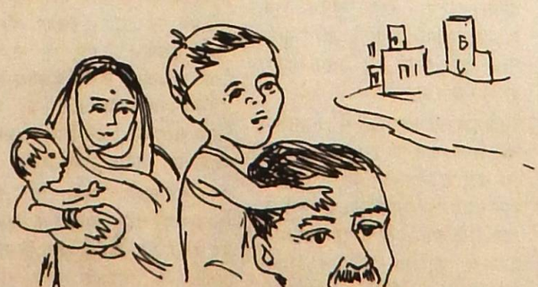

खटते हुए एक नारकीय जीवन गुजारने को बाध्य होना पड़ता है। कूड़ा बीनते हुए; होटलों में प्लेटें धोते; दौड़-दौड़कर ग्राहकों की सेवा करते और थोड़ी-सी चूक पर अपने मालिकों से बेरहमी से मार खाते; पटाखों की फैक्टरी में जलते-मरते; पेंसिल बनाने की फैक्टरियों में अपना हाड़-मांस गलाते; चूड़ियाँ बनाने वाले कारखानों में अपनी आँखों की रोशनी गँवाते ये मासूम थैलीशाहों की तिजोरी भरते-भरते मर-खप जाते हैं। तब इस आदमखोर पूँजीवादी व्यवस्था के पैरोकार सोनिया गाँधियों, भपेन्द्र सिंह हुड्डाओं, रेणुका चौधरियों व नवीन जिंदलों जैसों की दिखावे की संवेदना भी (जो इनके द्वारा प्रिंस को दिये गये दो-दो लाख की राहत राशि के रूप में सामने आयी) उपजती दिखायी नहीं पड़ती।

और हर मामले को सनसनीखेज बनाकर परोसने वाले इनके भाड़े के कलम घसीटों और गाल बचाने वाले सरकारी और निजी चैनलों की आँखों पर निर्मम संवेदनहीनता का एक मोटा परदा पड़ जाता है। यदि प्रिंस के बचाव की कार्रवाई हर पल सनसनी पैदा करने वाली और नाटकीय नहीं बन पाती तो निश्चित ही मीडिया की उसमें रंचमात्र भी दिलचस्पी नहीं होती। स्पष्टतः, बाज़ार और मुनाफ़े की अन्धी हवस से संचालित इन पूँजीवादी माध्यमों से कोई उम्मीद करना एक झूठा मुगालता पालना होगा।

दरअसल, सच्चाई यही है कि ऐसे हजारों-हजार बच्चे अपने परिवार को भुखमरी से बचाने के लिए खतरनाक कामों में लगे हैं और उनके श्रम से मुनाफ़ा निचोड़ने वाले उनके सुरक्षा उपायों में खर्च करके अपना मुनाफ़ा कम करना नहीं चाहते। फिर कोई बच्चा तिल-तिलकर मर भी जाये तो क्या है, उसकी जगह लेने के लिए दसियों बच्चे मुनाफ़े की चक्की के बीच अपने को झोंकने के लिए तैयार मिलेंगे और यह सिलसिला चलता रहेगा, पूँजी का राक्षस बच्चों के खून से अपना पेट भरता रहेगा। और पूँजी की इस ताने-बाने की नुमाइन्दगी करती सरकार बाल श्रम के खिलाफ दिखावे का कानून बनाती रहेगी तथा उसे लागू करवाने की ज़िम्मेदारी से आँख मूँदकर संसद में बहसबाजी का अड्डा जमाती रहेगी। इसका अन्त केवल और केवल इस अमानवीय पूँजीवादी व्यवस्था के खात्मे के साथ ही सम्भव है। इस सच्चाई को बयान करने की हिम्मत और ताकत किसी पूँजीवादी मीडिया में नहीं हो सकती।

—मीनाक्षी

विकल्प केवल एक है—मेहनतकश जनता के राज का निर्माण!

पेज 1 से आगे

पूँजीवादी व्यवस्था की हिफ़ाजत करना मुमकिन नहीं जबकि यही तो उनका असली धन्धा है। दुनिया भर के मज़दूर आन्दोलन में घुसे हुए अन्तरराष्ट्रीय पूँजी के ये एजेण्ट हरमुमकिन यही कोशिश करते हैं कि मज़दूर वर्ग पूँजीवादी व्यवस्था के क्रान्तिकारी विकल्पों की ओर न बढ़ जाये। इसलिए तरह-तरह की सुधारवादी कवायदों में लगातार जुटे रहते हैं। वे मेहनतकश जनता के बीच यह भ्रम पैदा करते हैं कि एक शरीफ, सुधरा हुआ मानवीय पूँजीवाद सम्भव है। वे बर्बर पूँजीवाद की जगह मेहनतकश जनता के सामने सभ्य पूँजीवाद का विकल्प पेश करते हैं। इसीलिए ये कम्युनिस्ट नामधारी पूँजी के टुकड़खोर पूँजीवादी जनवाद—उसकी संसद, विधानसभाओं और अन्य पूँजीवादी पंचायती संस्थाओं का गुणगान करते नहीं अघाते। वे पूँजीवादी राजसत्ता के असली चरित्र के बारे में मेहनतकश जनता को गुमराह करते हैं। वे मज़दूर वर्ग को खून द्वारा हासिल यह शिक्षा नहीं देते कि संसद और विधानसभाएँ पूँजीवादी जनवाद के दिखाने के दाँत होते हैं और असली खाने के दाँत होते हैं—फ़ौज, पुलिस और नौकरशाही। यानी पूँजीवादी प्रजातंत्र की असली परिभाषा यह है कि 'प्रजा अगर तंत्र से टकराती है कभी/ तो तंत्र की हिफ़ाजत में खड़ी बन्दूक की नाल से बोलती है राज्यसत्ता/ कि सुनो मेरी प्यारी-प्यारी प्रजा तुम्हें तंत्र के भीतर ही प्रजा होने का हक़ है।' इस असलियत को जनता के बीच उजागर कर पूँजीवादी जनतंत्र की जगह मेहनतकश जनता का सच्चा जनतंत्र कायम करने के लिए तैयार करने के बजाय मज़दूर वर्ग के ये गद्दार संसदीय सूअरबाड़े में लोट लगाना पसन्द करते हैं।

लेकिन दुनिया भर के ये सामाजिक जनवादी (यानी नकली वामपंथी) लाख कवायदें कर लें वे पूँजीवाद के बुनियादी अन्तरविरोधों को समाप्त नहीं कर सकते। उसकी आन्तरिक गति के नियमों को नहीं बदल सकते। आज तक कोई भी पूँजीवादी नीम-हक़ीम न तो कोई ऐसा नुस्खा ईजाद कर पाया है और न कर पायेगा जो पूँजीवाद को अजर-अमर बना सके। अब तक ईजाद तमाम नुस्खे पूँजीवाद की उमर कुछ दिन और बढ़ा सकते हैं। इससे अधिक कुछ नहीं। भूमण्डलीकरण का चेहरा "मानवीय" बनाने की सारी कवायदों की आखिरी सीमा यही है।

विश्व पूँजी द्वारा भूमण्डलीकरण की आर्थिक नीतियों द्वारा समूचे भूमण्डल पर जिस बर्बरता का साम्राज्य खड़ा किया गया है वह तभी तक कायम है जब तक दुनिया का मज़दूर वर्ग एक ऐतिहासिक और फैसलाकुन नये हमले की तैयारियाँ पूरी नहीं कर लेता। पूँजीवादी दुनिया का अमन-चैन तभी तक कायम है जब तक दुनिया के पैमाने पर मज़दूर वर्ग की कतारें हुंकार भरना नहीं शुरू कर देतीं। हालाँकि अभी भी ऐसा नहीं है कि विश्व पूँजीवाद के अश्वमेघ का घोड़ा पूरी तरह बेरोकटोक बढ़ा चला आ रहा है। उसके रथ का चक्का पश्चिम एशिया के दलदल में बुरी तरफ फँसा हुआ है और उसे बाहर निकालने में विश्व पूँजी के महारथी की साँसें उखड़ी जा रही हैं। विश्व पूँजीवादीतंत्र के खिलाफ़ दुनिया के मज़दूर वर्ग ने पूँजी के दुर्गों पर कोई निर्णायक हमला भले ही न बोला हो लेकिन निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों के खिलाफ़ छिटपुट रूप में ही सही उसका प्रतिरोध युद्ध जारी रहा है। वह दिन अब कोई सुदूर भविष्य की बात भी नहीं है जब मज़दूर क्रान्तियों के पहले विश्व ऐतिहासिक चक्र की पराजय के झटके से निर्णायक रूप से उबरकर मज़दूर क्रान्तियों के नये चक्रों का सिलसिला शुरू होगा। एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमेरिका में इस ऐतिहासिक वर्ग महासमर के लिए रणक्षेत्र सज चुका है। ऐसी परिस्थिति में विश्व पूँजीवाद के साथ ही उसके तमाम पहरेदार-खिदमतगार भी इतिहास की कचरापेटी के हवाले किये जाने से बच नहीं सकेंगे।

इसलिए, देश के मेहनतकश अवाम को "मानवीय" पूँजीवाद के भ्रमों से मुक्त होकर पूँजीवाद के एकमात्र क्रान्तिकारी विकल्प समाजवाद की दिशा में अपनी तैयारियों को तेज कर देना होगा क्योंकि बर्बरता का राज उसकी नियति कदापि नहीं हो सकती।

पेज 1 से आगे

लेबनान की तबाही ...

लेबनान में सड़कों, पुलों, बिजलीघरों और भारी संख्या में रिहायशी मकानों को तबाह कर दिया गया है। शरणार्थी शिविरों तक को नहीं बख्श गया है। लेबनानी जनता को आतंकित करने और दक्षिण लेबनान को आबादी से खाली करने के इरादे से फास्फोरस बम, एअर-सकिंग बम तथा क्लस्टर बम जैसे अन्तरराष्ट्रीय तौर पर प्रतिबन्धित हथियारों का इस्तेमाल किया जा रहा है जिनसे आम नागरिक आबादी का भारी पैमाने पर जान-माल का नुकसान हो रहा है।

इजरायली हमले का सीधा मकसद लेबनान का राजनीतिक ढांचा अपने हिसाब से बदल डालना है। इसके लिए जरूरी है कि वहाँ की शिया जनता की फिलिस्तीन समर्थक और इजरायल-विरोधी भावनाओं को कुचल दिया जाए और दक्षिणपंथी, अमेरिकापरस्त गुटों की ताकत बढ़ायी जाए जिनमें सबसे आगे क्रिश्चियन फैलांज गुट है। यह हमला 1975 से 1990 तक लेबनान में चले भीषण गृहयुद्ध के नतीजों को पलटने की कोशिश है। अमेरिका, इजरायल और अन्य साम्राज्यवादी शक्तियों, जिनमें फ्रांस प्रमुख था, ने उस लम्बे और खूनी संघर्ष को भड़काने और जारी रखने में मुख्य भूमिका निभाई थी। गृहयुद्ध के दौरान इजरायल ने 1978 में लेबनान पर हमला किया और फिर 1982 में दुबारा किए गए हमले के बाद 18 वर्ष तक दक्षिण लेबनान पर कब्जा बनाए रखा। अमेरिका का मुख्य सहयोगी फैलांज नाम का फासिस्ट गुट था जो फिलिस्तीन मुक्ति संगठन और लेबनान की वामपंथी शक्तियों के गठबन्धन के खिलाफ दक्षिणपंथी ताकतों का अगुवा था।

साम्राज्यवादी साजिश और हस्तक्षेप

फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन को लेबनान से बाहर निकालने में तो सफल रहे लेकिन गृहयुद्ध के खात्मे के लिए हुए समझौते के कारण एक ओर फैलांज की ताकत कम हो गई, और दूसरी ओर इजरायली कब्जे के खिलाफ व्यापक जनप्रतिरोध से हिज्बुल्ला का उदय हुआ। ईरान और सीरिया ने अपने-अपने कारणों से इसे समर्थन दिया। अमेरिका इसी स्थिति को बदलना चहता है।ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

इजरायल लम्बे समय से लेबनान को अपने एक संरक्षित क्षेत्र में बदल डालने की कोशिश करता रहा है।

मार्च 1978 में, इजरायल ने पीएलओ की आतंकवादी गतिविधियों का जवाब देने के बहाने लेबनान में अपनी सेना भेजी। हालांकि 2000 से ज्यादा लेबनानी नागरिकों की मौत के बाद अन्तरराष्ट्रीय दबाव में इजरायल को वापस हटना पड़ा लेकिन एक दक्षिणपंथी मिलिशिया के जरिए बारह मील चौड़ी पट्टी पर उसने अपना कब्जा बनाये रखा।

इसके चार वर्ष बाद 1982 में इजरायल ने फिर से लेबनान पर हमला कर दिया। इस युद्ध ने पीएलओ को लेबनान से हटने पर मजबूर कर दिया। पीएलओ के हटते ही इजरायल के भरपूर समर्थन से लेबनानी फासिस्ट गुटों ने हजारों फिलिस्तीनी शरणार्थियों का कत्लेआम किया। कई दिनों में निहत्थे औरत-मर्द बच्चे और बुजुर्ग घेर-घेर कर मारे जाते रहे और तमाम अंतरराष्ट्रीय शक्तियां तमाशा देखती रहीं।

गृहयुद्ध के दौरान अमेरिका ने भी बेरूत में अपनी सेना भेजी और बेरूत के गरीब इलाकों पर अमेरिकी जंगी जहाजों ने भयंकर बमबारी की लेकिन एक आत्मघाती हमले में 250 अमेरिकी सैनिकों की मौत के बाद उसे वहाँ से भागना पड़ा। लेकिन इजरायली सत्ता ने दक्षिणी लेबनान के बड़े इलाकों पर नियंत्रण बनाए रखा। इस कब्जे के खिलाफ व्यापक प्रतिरोध से ही एक शक्तिशाली सैनिक और राजनीतिक ताकत के रूप में हिज्बुल्ला का उदय हुआ। हिज्बुल्ला के नेतृत्व में चले छापामार युद्ध ने आखिरकार 2000 में इजरायल को अपनी सेनाएँ हटाने के लिए मजबूर कर दिया।इजरायल का असली मकसद और सैनिक हथकण्डे

इस युद्ध का उद्देश्य सिर्फ हिज्बुल्ला को ही नहीं बल्कि लेबनान में अमेरिकी और इजरायली वर्चस्व के किसी भी प्रतिरोध को खत्म कर डालना है। इजरायल जो तरीके अपना रहा है उन्हें इसी तरह समझा जा सकता है। इजरायली सेना दक्षिण लेबनान पर अन्धाधुन्ध बमबारी कर रही है जो गरीब शिया आबादी का इलाका है और हिज्बुल्ला के समर्थन का मुख्य आधार है। जान-बूझ कर पूरी नागरिक आबादी को निशाना बनाया जा रहा है। पूरे के पूरे गाँव नष्ट किए जा रहे हैं और समूचे इलाके को इस तरह बरबाद किया जा रहा है ताकि वहाँ बसना ही मुश्किल हो जाए। इसका मकसद दक्षिण लेबनान को एक ऐसे 'नो-मैन्स लैण्ड' में बदलना है जहाँ इजरायली या इजरायल-अमेरिकी सेना या फिर किसी तरह की "अन्तरराष्ट्रीय शान्ति रक्षक सेना" तैनात की जा सके।

यह इजरायली हमला पूरी तरह लेबनान की गरीब आबादी के खिलाफ है। बेरूत और देश के अन्य हिस्सों में अमीरों की आबादी वाले इलाके बमबारी से बचे हुए हैं। गृहयुद्ध के दौरान भी ऐसा ही हुआ था जब इजरायल और अमेरिका ने गरीब आबादी के खिलाफ क्रिश्चियन फैलांज और दूसरी दक्षिणपंथी शक्तियों का साथ दिया था।अमेरिका की घृणित भूमिका

अमेरिका इस युद्ध में निर्णायक भूमिका निभा रहा है। इसने युद्ध की योजना को पूरा समर्थन दिया था और अमेरिकी हथियारों तथा अमेरिकी पैसे से लड़े जा रहे इस युद्ध को अंजाम तक पहुँचाने के लिए इजरायली सत्ता के साथ मिलकर काम कर रहा है।

अमेरिकी विदेश मंत्री कोंडोलीजा राइस ने पिछले सप्ताह इजरायली बमबारी से तबाह हुए बेरूत में घोषणा की कि "हम एक नये मध्यपूर्व का उदय होते हुए देख रहे हैं!" उसने लेबनान में हो रही भयंकर तबाही पर "चिन्ता" जतायी लेकिन किसी भी तरह के युद्धविराम से साफ इन्कार करते हुए कहा कि अभी इसका समय नहीं हुआ है। मकसद साफ है। अमेरिका और टोनी ब्लेयर जैसे उसके पिट्ठू इजरायल को अपना काम पूरा करने के लिए पूरा समय देना चाहते हैं।

कोंडोलीजा के बयान से जोश में आकर इजरायल ने अगले ही दिन दक्षिण लेबनान में संयुक्त राष्ट्र की निगरानी चौकी पर हमला करके संयुक्त राष्ट्र के चार पर्यवेक्षकों को मार डाला। इसका वही नतीजा हुआ जो इजरायल चाहता था। संयुक्त राष्ट्र ने अपनी सभी निगरानी चौकियाँ सीमा से हटा ली हैं। 1967 में चार अरब राष्ट्रों पर हमले के ठीक एक दिन पहले इजरायल ने खाड़ी में तैनात एक अमेरिकी निगरानी जहाज 'लिबर्टी' पर हमला करके उसके दो तिहाई नौसैनिकों को हताहत कर दिया था ताकि उसके इस दावे के खिलाफ कोई सबूत न बचे कि हमला इजरायल की तरफ से शुरू नहीं किया गया। अमेरिका ने अपने पिट्ठू का साथ देने के लिए न केवल चुप्पी साधे रखी बल्कि इस मामले को दबा देने के प्रयास किये जाते रहे।

सच तो यह है कि इजरायल का अस्तित्व ही अमेरिका के सहारे पर टिका हुआ है। मध्यपूर्व में अपनी साम्राज्यवादी साजिशों के लिए अमेरिका को जिस लठैत की जरूरत है उसका काम इजरायल बखूबी निभा रहा है। दूसरे विश्वयुद्ध में फासिस्टों के हाथों यहूदियों के कत्लेआम के कारण दुनियाभर में उपजी सहानुभूति और समर्थन से एक यहूदी राज्य के रूप में इजरायल का जन्म हुआ था। लेकिन इसने जन्म के साथ ही साम्राज्यवादियों के एजेंट की भूमिका निभाना और फिलिस्तीनियों तथा अरब जनता के खिलाफ नवफासिस्ट बर्बर हमले करना शुरू कर दिया। लेकिन अपनी तमाम कोशिशों के बावजूद इजरायल न तो फिलिस्तीनी प्रतिरोध को खत्म कर पाया है और न ही लेबनान में उसकी यह कोशिश कामयाब होते दिखायी दे रही है।

इजरायली प्रधानमंत्री एहुद ओल्मर्ट की योजना खटाई में पड़ गयी थी। ओल्मर्ट को उम्मीद थी कि अमेरिकी विमानों और मिसाइलों के सहारे जबर्दस्त हमलों से उसे फटाफट जीत हासिल हो जायेगी। लेकिन तीन हफ्तों की सैनिक कार्रवाई के बाद भी न केवल उसका मकसद पूरा नहीं सका है बल्कि इजरायली सेना को भारी नुकसान उठाना पड़ा है। हिज्बुल्ला के योद्धाओं ने अपनी पुरानी मिसाइलों और हथियारों के दम पर उसे ऐसी करारी टक्कर दी है जिसकी उसे कतई उम्मीद नहीं थी। कई जगहों से इजरायली सेना को भारी नुकसान उठाकर पीछे हटना पड़ा है। हिज्बुल्ला ने इजरायल के मुकाबले बहुत कम मिसाइलें दागी हैं और ज्यादातर सैनिक ठिकानों को निशाना बनाया है लेकिन इतने से ही इजरायल के भीतर आतंक मच गया है और जनता के एक हिस्से से शान्ति-शान्ति की गुहार उठने लगी है। साम्राज्यवादी अपने घिनौने मकसद को पूरा करने के लिए न तो अपनी जनता की शांति की पुकार सुनते हैं और न किसी और की। जनता का जुझारू संघर्ष ही उन्हें पीछे हटने के लिए मजबूर कर सकता है। लेबनान में अपनी पूरी ताकत झोंककर इजरायल और अमेरिका चाहे फिर कुछ दिनों तक वहाँ कब्जा जमा लें लेकिन अन्ततः उन्हें एक बार फिर वहाँ से भागना ही पड़ेगा। और शायद यह पूरे मध्यपूर्व से उनके खदेड़े जाने की शुरुआत होगी।

सत्यम

चीन: बढ़ती बदहाली के खिलाफ बढ़ता जनप्रतिरोध

इस समय दुनिया के पूँजीवादी हलकों में चीन की आर्थिक तरक्की के चर्चे आम हैं। देश के चोटी के पूँजीपतियों से लेकर उसके तमाम राजनीतिक नुमाइन्दे और टुकड़खोर बुद्धिजीवी चीन से सीखने की नसीहतें देते फिर रहे हैं। वे चीन की मेहनतकश जनता के कर्मठता और अनुशासनप्रियता की तारीफ से कसीदे पढ़ रहे हैं। जबकि चीन की इस नयी पूँजीवादी समृद्धि के बीच वहाँ मेहनतकश जनता की ज़िन्दगी की सूरतेहाल क्या है, इस ओर सके जान-बुझकर आँखें फेर ली जाती हैं। लेकिन सच्चाइयों को झूठें आँकड़ों के गर्द-आ-गुबार के नीचे दफन नहीं किया जा सकता।

सच यह है कि चीन का मेहनतकश अवाम देशी-विदेशी धनकुबरों की तिजोरियाँ चुपचाप, गुलामों की तरह सिर झुका कर नहीं भरता चला रहा है। यह सम्भव ही नहीं है। लाख कोशिशों के बावजूद चीन के मेहनतकशों के जेहन से 1976 के पहले के समाजवादी चीन की यादें पूरी तरह मिटायी नहीं जा सकी हैं। वह कम्युनिस्ट नामधारी पूँजीवादी पार्टी और राज्य की पूँजीपरस्त नीतियों और दमन का लगातार प्रतिरोध कर रहा है। बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि 1976 के बाद से चीन के नये पूँजीवादी शासक एक दिन भी चैन से नहीं बैठ सके हैं। इससे चीनी जनता को प्रिय नेता माओ त्से-तुङ की वह भविष्यवाणी ही सही साबित हो रही है जब उन्होंने अपनी मृत्यु से कुछ समय पूर्व कहा था कि अगर चीन को पूँजीवादी राह पर ले जाने वाली ताकतें हुकूमत में बैठ जाएँगी तो उन्हें एक दिन भी चैन नसीब नहीं होगा।

इसी सच्चाई को उजागर करता हुआ एक महत्वपूर्ण लेख अंग्रेज़ी पत्रिका "एनालिटिकल मन्थली रिव्यू" के जून 2006 अंक में छपा है। यह लेख, राबर्ट वील और उनके दो और साथियों द्वारा चीन के मज़दूरों, किसानों, संगठनकर्ताओं और वामपथी कार्यकर्ताओं के साथ की गई अनेक मीटिंगों पर आधारित है। पूँजीवादी "सुधारों" के दौर में, सुख-सुविधाएँ जो समाजवादी दौर में जनता को मिली थीं—छीने जाने पर, चीनी जनता क्या कर रही है इसके बारे में राबर्ट वील लिखते हैं:

"चीनी मेहनतकश जनता के बदतर होते हालात, अधिकारों के छीने जाने—जो उन्होंने समाजवादी क्रान्ति में कई दशकों के संघर्ष और कुर्बानियों द्वारा प्राप्त किए थे—के दौर में चीनी जनता हाथ पर हाथ धरे नहीं बैठी है। वर्ग संघर्ष और सामाजिक उग्र झड़पें इस स्तर पर पहुँचे, जैसा पहले कभी न हुआ था। मज़दूर-किसान, दुनिया की और किसी भी जगह से बड़े विरोध प्रदर्शन संगठित कर रहे हैं, जिनमें हजारों लोग शामिल होते हैं और जिसका नतीजा अधिकारियों के साथ हिंसक मुठभेड़ों में निकलता है। चीन के जन-सुरक्षा मन्त्री द्वारा प्रकाशित आकड़ों में यह माना गया है कि "2004 में 74,000 सामूहिक घटनाएँ या विरोध प्रदर्शन हुए, जब कि 10 साल पहले ये केवल 10,000 थे और 2003 में 58,000 तक बढ़ गए थे" (न्यूयार्क टाईम्स, अगस्त 2005)।

इससे यह सिद्ध होता है कि चीनी जनसमूह, तथाकथित चीनी कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा चलाई जा रही मज़दूर-किसान विरोधी पूँजीवादी नीतियों के विरोध को लगातार तेज़ करते जा रहे हैं।

चीन के जेंगजू शहर के आस-पास कागज, कपड़ा और विद्युत-उपकरण फैक्टरियों के ज़बरदस्त विरोध प्रदर्शनों और 1997 में 13,000 टैक्सी चालकों की हड़ताल ने दिखाया है, जैसा कि राबर्ट वील लिखते हैं कि "हजारों फैक्टरी मज़दूर और स्थानीय लोग उन लोगों के समर्थन मे उतर आए हैं जो निजीकरण का विरोध कर रहे है, नौकरियाँ और सुविधाएँ गंवा चुके हैं और जो ऊँचे करों और फीसों का विरोध कर रहे हैं।"

जेंगजू शहर के वो लोग जिनके पास चाहे अभी रोज़गार है और वो जो पूँजीवादी नीतियों के कारण रोज़गार से हाथ धो बैठे हैं, जो सब कुछ समझते हैं, एकता बना रहे हैं, अलग-अलग फैक्टरियों में नुमाइंदों से मीटिंगे कर रहे हैं और आने वाले साल में, शहर की सभी फैक्टरियों के मज़दूरों की एकता से बड़े विरोध प्रदर्शन संगठित करने की तैयारियाँ कर रहे हैं।"

शहरों और गाँवों के लोग पूँजीवादी सुधारों के दौर की समाजवाद से तुलना कर रहे हैं। वे समाजवाद वापस लाना चाहते हैं। गाँवों के लोग खासकर ज़मीन के गलत ढंग से और कम दाम पर उनसे छीने जाने और पूँजीपतियों को बेचे जाने पर चीनी 'कम्युनिस्ट पार्टी' का विरोध कर रहे हैं। हालांकि अभी गाँवों और शहरों में हो रहे विरोध में तालमेल नहीं हो सका है।

शहरी लोगों/मज़दूरों द्वारा किए जा रहे विरोध-प्रदर्शनों पर इलाके के अधिकारियों द्वारा ज्यादा भयानक कार्रवाई की जाती हैं क्योंकि वो जनता का ध्यान ज्यादा आकर्षित करते हैं, शहरी इलाके की सत्ता को हिलाने वाले होते हैं, पूँजीवादी सुधारों के केन्द्र-बिन्दु—उद्योगों के निजीकरण और नए पूँजीपति वर्ग के पैदा होने पर—सीधा धावा बोलते हैं। अधिकारियों की जालिमाना कार्रवाईयों के बावजूद भी वे डटे रहते हैं और अकसर कहते हैं "हमारे पास गंवाने के लिए कुछ नहीं हैं, हम मरते दम तक लड़ेंगे।"

मज़दूरों-किसानों में वे लोग जिनका समाजवाद के दौरान अच्छा अनुभव है और मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद को लागू करने का ज्ञान है, वे आज चीन में वाम की वापसी और चीनी मेहनतकश जनता की एकता के लिए एक उम्मीद हैं।

जेंगजू और दूसरे इलाके जो 1920 में शुरू हुए कम्युनिस्ट आन्दोलन के गढ़ थे, में आज भी क्रान्ति के सिद्धान्तों, उत्साह और अभ्यास को जारी रखा जा रहा है। माओ के युग की विरासत को बुलंद किया जा रहा है और अहम बात यह है कि मजदूरों की चेतना का स्तर बहुत ऊँचा है, जो पूँजीवाद के खिलाफ समाजवाद के संघर्ष को जिन्दा रखे हुए हैं।

एक मजदूर ने राबर्ट वील से कहा, "ये ऊपर से देखने में आर्थिक समस्या लगती है लेकिन मुख्य तौर पर है ये राजनीतिक। चीन, अमेरिका की तरह नहीं है, जहाँ जनता के पास कभी समाजवाद नहीं था। बुजुर्ग मज़दूर इसके ऐतिहासिक संदर्भ को समझते हैं। अधिकांश माओ के दौर और सांस्कृतिक क्रान्ति के दौर से गुजरे हैं। उन्होंने माओ विचारधारा का अनुभव किया है और उनकी पीढ़ी फिर से चीन को "माओ की राह" पर लाना चाहती है। यह समाजवाद को बचाने के अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष का हिस्सा है।"

चीनी बुजुर्ग मज़दूर आन्दोलन को जल्द से जल्द उच्च स्तर पर ले जाना चाहते हैं क्योंकि उनके मुताबिक नई पीढ़ी "पूँजीवादी - सुधारों" के दौर की "विरासत" है, जो संघर्ष को सिर्फ अच्छी हालात के लिए आर्थिक संघर्ष के रूप में ही देखेंगे और लागू करेगें।

बुजुर्ग लोग जो समाजवाद के लिए संघर्ष के प्रति पक्के हैं, वो "समाजवादी विरासत" को अगली पीढ़ी तक पहुँचाने के लिए केवल राजनीतिक और आर्थिक संघर्ष तक ही टिके नहीं रहते बल्कि सांस्कृतिक ढंग भी अपनाते हैं।

एक पार्क, जिसमें राबर्ट वील और उनके साथी घूमने गए, में मजदूर और उनके परिवार रोज रात को एकत्रित होते हैं और क्रान्तिकारी गीत गाए जाते हैं। उन्हें बताया गया कि हर हफ्ते के अन्त में बहुत बड़ी संख्या में, लगभग हजार और कभी-कभी इससे भी ज्यादा लोग वहाँ आते हैं और उत्साह पूर्ण संगीत का आयोजन किया जाता है। उन्हें यह भी बताया गया कि "इस संगीत का राजनीतिक अर्थ, चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के प्रति विरोध जताना है—जैसीकि यह बन चुकी है—और माओ-विचारधारा को इसका सामना करने के लिए बुलन्द रखना है।"

मज़दूरों का यह उत्साह चीन में संघर्ष का लगातार विस्तार कर रहा है। सन् 2000 में जब जेंगजू शहर की कागज मिल में हड़ताल हुई—जो अब भी इस क्षेत्र में निजीकरण के विरोध का मॉडल है—मजदूरों द्वारा महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के तरीके को मैनेजरों पर दबाव डालने, फैक्टरी पर मज़दूरों का कब्जा जमाने, फैक्टरी के साज-समान को वहाँ से हटाने से बचाने और मज़दूरों का फैक्टरी पर नियन्त्रण बनाने के लिए प्रयोग में लाया गया। और आज भी फैक्टरी मजदूरों के नियन्त्रण में है। ऐसे ही विद्युत-उपकरण बनाने वाली फैक्टरी के संघर्ष के दौरान मज़दूरों का नारा था "मज़दूर पैदावार करना और जीना चाहते है" और बैनर थे जो कह रहे थे "माओ-त्से-तुङ विचारधारा को लगातार बुलंद रखो।"

राबर्ट वील के मुताबिक "मज़दूरों की अन्य कार्यवाइयाँ और भी स्पष्टता से राजनीतिक रूप ले चुकी हैं।"

2001 में कामरेड माओ की वर्षगांठ के सन्दर्भ में आयोजन के दौरान हजारों मज़दूरों का जलसा हुआ। 1000 पुलिस वाले उन्हें घेरे हुए थे। दोनों में जमकर संघर्ष हुआ। अब, शहर की वह जगह जहाँ कामरेड माओ की प्रतिमा है, वहाँ अब कामरेड की मृत्यु और जन्म दिवस पर जाना मना है। मगर, मज़दूर वहाँ जाते हैं और पुलिस वालों का मुकाबला करते हैं।

चीन में मुख्य रूप से तीन तरह की वामपंथी रुझानें हैं। पहले "बुजुर्ग वामपंथी" हैं, जो कि मुख्य रूप से पार्टी के अन्दर है और जिन्होंने पहले-पहले देड पंथी सुधारों का "समाजवादी" समझ कर समर्थन किया। लेकिन जब धीरे-धीरे सारी तसवीर सामने आने लगी तो "सुधारों" के खिलाफ हो गए।

दूसरे, "माओवादी" हैं, जो कामरेड माओ के दौर से समाजवाद कार्यक्रम को बुलन्द करते हैं और जिनका मज़दूर-किसानों में व्यापक आधार है। इनमें से बहुत से पार्टी के अन्दर काम करते हैं, लेकिन माओवादी ग्रुप मुख्य तौर पर गैर-पार्टी लोगों द्वारा बना है।

तीसरे "नया वाम" हैं। इनमें ज्यादातर नई पीढ़ी के लोग हैं। "नया वाम" खास तौर पर "विश्वविद्यालयों और गैर सरकारी संस्थाओं में केन्द्रित है। इसमें सामाजिक जनवादी तौर-तरीके पाए जाते हैं। लेकिन सब कुछ के बावजूद "नया वाम" के अन्तर्गत गिने जाने वाले लोग खुद को "बुजुर्ग वामपंथियों" से ज्यादा "माओवादियों" के नज़दीक रखते हैं।

चीनी मेहनतकश जनता के पास बुद्धिजीवियों को सिखाने के लिए केवल श्रम का सचमुच का संसार और पूँजीवादी शोषण ही नहीं है, बल्कि उनके पास समाजवाद को लागू करने का अनुभव भी है। अधिकांश मौकों पर वे बुद्धिजीवियों से ज्यादा समझदार और मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद को लागू करने में ज्यादा अच्छे ढंग से सक्षम होते हैं।

चीनी बुद्धिजीवियों का एक अच्छा खासा हिस्सा ऐसा है जो शुरुआत में देडपंथी सुधारों की तरफदारी करता था, लेकिन अब माओवाद की तरफ वापस आ रहा है, जनता में, मज़दूरों-किसानों में जा रहा है, महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के बारे में दुबारा से जानकारी एकत्रित कर रहा है, चीनी कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा सांस्कृतिक क्रान्ति विरोधी व्याख्या और प्रचार को चुनौती दे रहा है और जनता के उभारों में हिस्सा ले रहा है।

बुद्धिजीवियों की पुरानी मान्यताएँ बदल रही हैं। कामरेड माओ द्वारा पेश की गई, सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान पूँजीवाद की आलोचना की प्रासंगिकता आज की परिस्थितियों में उन्हें नज़र आ रही है।

मज़दूरों की सम्पत्ति—उनकी फैक्टरियों का पूँजीपतियों को बेचा जाना या बन्द कर दिया जाना, उनको दी जाने वाली सुख-सुविधाओं को छीना जाना, महँगी होती रोजमर्रा की वस्तुएँ, शिक्षा का मेहनतकश जनता से लगातार दूर किया जाना, और इस सब के खिलाफ जनता के विरोध-प्रदर्शनों को सरकार द्वारा जालिमाना ढंग से कुचला जाना, संशोधनवाद की माडल—चीनी कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय संशोधनवादी पार्टियाँ—भाकपा, माकपा, भाकपा (माले) लिबरेशन और इनकी रिश्तेदार पार्टियाँ—जिसका गुणगान करते नहीं थकतीं, के खिलाफ चीनी जनता का गुस्सा लगातार बढ़ता जा रहा है।

समाजवादी दौर की यादें, मज़दूरों-किसानों की उनकी फैक्टरियों और फार्मों को ही नहीं बल्कि विश्वविद्यालयों और स्थानीय सरकारों को चलाने में भी उनकी भागीदारी, अब भी उनके लिए मार्गदर्शक हैं और उनके राजनीतिक अधिकार छीने जाने के दौर में सरकार के विरुद्ध अपनी आवाज बुलंद करने में यह अनुभव उनके काम आता है।

पिछले 25-30 वर्षों में संशोधनवाद चीनी कम्युनिस्ट पार्टी पर पूरी तरह कब्जा कर चुका है। यह पार्टी मुख्य रूप में पूँजीवादी पार्टी बन चुकी है। यह सम्भव नहीं लगता कि इसे फिर से मज़दूर वर्ग की पार्टी में बदला जा सके।

चीनी मेहनतकश जनता की दिन-प्रतिदिन बिगड़ती परिस्थितियाँ, उसे उग्र बना रही हैं। मज़दूरों-किसानों-बुद्धिजीवियों में यह धारणा लगातार बढ़ती जा रही है कि विश्व पूँजीवाद उनकी किसी भी समस्या का हल नहीं दे सकता। कामरेड माओ द्वारा दिखाई गई राह में उन्हें अपना खुशहाल भविष्य नज़र आता है। वे फैक्टरियों और फार्मों में पूँजीवादी शोषण का विरोध ही नहीं करते, बल्कि उनके पास उस समाजवादी दौर की यादें हैं जिसे उन्होंने अनुभव किया है और वे जानते हैं कि उस सब कुछ का दुबारा निर्माण सम्भव है।

—लखविन्दर

'बक़लमे-खुद'

स्तम्भ के बारे में

–सम्पादक

इस स्तम्भ के अन्तर्गत हम ज़िन्दगी की जद्दोजहद में जूझ रहे मज़दूरों और उनके बीच रहकर काम करने वाले मज़दूर संगठनकर्ताओं-कार्यकर्ताओं की साहित्यिक रचनाएँ प्रकाशित करते हैं–कविताएँ, कहानियाँ, डायरी के पन्ने, गद्यगीत आदि-आदि।

इस स्तम्भ की शुरुआत की एक कहानी है। 'बिगुल' के सभी प्रतिनिधियों-संवाददाताओं के अनुभव से यह जुड़ी हुई है। हमने पाया कि जो कुछ पढ़े-लिखे और उन्नत चेतना के मज़दूर हैं, वे गोर्की की 'माँ', उनकी आत्मकथात्मक उपन्यास-त्रयी और अन्य रचनाओं को तो बेहद दिलचस्पी के साथ पढ़ते हैं, प्रेमचन्द उन्हें बेहद पसन्द आते हैं, आस्त्रोव्स्की की 'अग्निदीक्षा' और पोलेवेई की 'असली इंसान' ही नहीं, कुछ तो बाल्ज़ाक और चेर्निशेव्स्की को भी मगन होकर पढ़ते हैं। लेकिन जब हम हिन्दी के आज के सिरमौर वामपंथी कथाकारों की बहुचर्चित रचनाएँ उन्हें पढ़ने को देते हैं तो वे बेमन से दो-चार पेज पलटकर धर देते हैं। पढ़कर सुनाते हैं तो उबासी या झपकी लेने लगते हैं। यदि उन सबकी राय को समेटकर थोड़े में कहा जाये, तो इसका कारण यह है कि ज्यादातर वामपंथी-प्रगतिशील लेखक आज अपनी रचनाओं में आम आदमी की ज़िन्दगी की, संघर्ष और आशा-निराशा की जो तस्वीर उपस्थित कर रहे हैं, वह आज की ज़िन्दगी की सच्चाइयों से कोसों दूर है। वह या तो ट्रेनों-बसों की खिड़कियों से देखे गये गाँवों और मज़दूर बस्तियों का चित्र है, या फिर अतीत की स्मृतियों के आधार पर रची गयी काल्पनिक तस्वीर। नयेपन के नाम पर जो कला का इन्द्रजाल रचा जा रहा है, वह भी आम जनता के लिए बेगाना है। कारण स्पष्ट है। दरअसल इन तथाकथित वामपंथियों का बड़ा हिस्सा "वामपंथी कुलीनों" का है। ये "कलाजगत के शरीफज़ादे" हैं जो प्रायः प्रोफेसर, अफसर या खाते-पीते मध्यवर्ग के ऐसे लोग हैं जो जनता की ज़िन्दगी को जानने-समझने के लिए हफ्ते-दस दिन की छुट्टियाँ भी उसके बीच जाकर बिताने का साहस नहीं रखते। ये अपने नेहनीड़ों के स्वामी सद्गृहस्थ लोग हैं। ये गरुड़ का स्वांग भरने वाली आँगन की मुर्गियाँ हैं। ये फर्जी वसीयतनामा पेश करके गोर्की, लू शुन, प्रेमचन्द का वारिस होने का दम भरने वाले लोग हैं। समय आ रहा है जब क्रान्तिकारी लेखकों-कलाकारों की एकदम नई पीढ़ी जनता की ज़िन्दगी और संघर्षों के ट्रेनिंग-सेण्टरों से प्रशिक्षित होकर सामने आयेगी। इन कतारों में आम मज़दूर भी होंगे। भारत का मज़दूर वर्ग आज स्वयं अपना बुद्धिजीवी पैदा करने की स्थिति में आ चुका है। भारत का यह नया बुद्धिजीवी मज़दूर या मज़दूर बुद्धिजीवी सर्वहारा क्रान्ति की अगली-पिछली पाँतों को नई मजबूती देगा। आज परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि हम अपेक्षा करें कि भारतीय मज़दूर वर्ग भी अपना इवान बाबुश्किन और मक्सिम गोर्की पैदा करेगा। 'बिगुल' की कोशिश होगी कि वह ऐसे नये मज़दूर लेखकों का मंच बने और प्रशिक्षणशाला भी।

इसी दिशा में, पहलकदमी जगाने वाली एक शुरुआती कोशिश के तौर पर इस स्तम्भ की शुरुआत की गयी है। मुमकिन है कि मज़दूरों और मज़दूरों के बीच काम करने वाले संगठनकर्ताओं की इन रचनाओं में कलात्मक अनगढ़ता और बचकानापन हो, पर इनमें जीवित यथार्थ की ताप और रोशनी के बारे में आश्वस्त हुआ जा सकता है। ज़िन्दगी की ये तस्वीरें सच्ची वामपंथी कहानी का कच्चा माल भी हो सकती हैं। और फिर यह भी एक सच है कि हर नयी शुरुआत अनगढ़-बचकानी ही होती है। लेकिन मंजे-मंजाये घिसे-पिटे लेखन से या काल्पनिक जीवन-चित्रण के उच्च कलात्मक रूप से भी ऐसा अनगढ़ लेखन बेहतर होता है जिसमें जीवन की वास्तविकता और ताजगी हो। हमारा यह अनुरोध है कि मज़दूर साथी अपनी ज़िन्दगी की क्रूर-नंगी सच्चाइयों की तस्वीर पेश करने के लिए अब खुद कलम उठायें और ऐसी रचनाएँ इस स्तम्भ के लिए भेजें। साथ ही प्रकाशित रचनाओं पर अपनी प्रतिक्रिया भी भेजें।

इस अंक में हम एक मज़दूर कार्यकर्ता जनार्दन की कहानी छाप रहे हैं।

कहानी

लेधा, चइयाँ और उसका परिवार

–जनार्दन

लेधा, चइयाँ भाई बहन थे और मेरे पड़ोस में रहते थे। लेधा सात साल का था और चइयाँ, जिसका नाम चाँदनी था लेकिन प्यार से लोग उसे चइयाँ बुलाते थे–लेधा से साल भर की बड़ी थी। दोनों कच्छा ही पहनते थे। कभी-कभी स्कूल जाना होता था तो कपड़े पहनते थे नहीं तो गर्मी के मौसम में वैसे भी कपड़े पहनने का उनके लिए कोई तर्क नहीं। दोनों दिन भर खेलते थे और आपस में मगन रहते थे। खेल में बात-बात पर हँसने लगते और जब दोनों में मारपीट हो जाती तो लेधा कहता मैं तो चला रोड पर अब बबुआ को तुम्हीं सम्हालोगी। बबुआ एक साल भर का छोटा बच्चा है जिसे छोड़कर उसके माँ-बाप काम पर चले जाते हैं और उसके देखभाल की ज़िम्मेदारी लेधा और चइयाँ पर रहती है।

उनकी एक छोटी-सी झुग्गी थी। दस बाई बारह फीट जमीन को ईंट से घेर दिया गया था। ऊपर सीमेण्ट शीट की छत थी, जो दीवार पर बीचोबीच रखी एक बल्ली पर टिकी थी। छत के आधे हिस्से पर कबाड़ रखा था और आधे हिस्से पर रात को सोने का काम किया जाता था। मैंने लेधा के पापा लक्खन से पूछा कि छत की शीट में तो नालियाँ हैं कैसे सोते हो शरीर दर्द नहीं करता?उसने कहा काम से इतनी थकान लगी रहती है कि खाना खाकर किसी करवट पड़ जाते हैं सुबह हो जाती है।

कमरे के अन्दर दीवारें झर रही थीं। और फर्श टूट-टूट कर नक्शे जैसा बन गया था। जहाँ-जहाँ दीवार का प्लास्टर बचा था, उस पर इतनी चिकनाई चिकटी हुई थी कि बच्चों ने नाखून से खूब चित्रकारी कर दी थी। दरवाजे के बाएँ तरफ लैट्रिन रूम बना था। जिसके गेट की जगह चट्टी टंगी थी। लैट्रिन रूम की दीवार से लेकर सामने के दीवार तक चौड़े पटरे का टाँड़ बना था जो दो मजबूत खूँटियों के सहारे टिका था। टाँड़ पर दो साबुन (एक नहाने का, दूसरा बर्तन धोने का), कुछ बर्तन, कुछ जूता तथा बीच में कपड़े का ढेर रखा था। सबसे कोने में एक टीवी रखी थी, जो अपने मन से चलती थी–उसके बारे में लेधा यही कहता था। टीवी के ठीक नीचे कोने में देवी-देवताओं का फोटो चिपका था और उसी से सटे हीरो-हिराइनों की तस्वीरें चिपकी हुई थी। दरवाजे के ठीक सामने दाहिनी तरफ एक तख्त पड़ी है जिसपर दो मोटी-मोटी लाल रंग की सिल्क की साड़ी का कवर चढ़ी हुई कथरी रखी है। जो सर्दी में ओढ़ने के काम आती है। कथरी के ऊपर कुछ कपड़े और कुछ चादरें रखी हैं।

बल्ली के बीचो-बीच कूलर वाला पंखा टँगा है। टाँड़ के नीचे रसोई के बर्तन का काम होता था। लैट्रिन रूम से सटे हुए एक फीट ऊँचा चबूतरा बनाया गया था। जहाँ बर्तन धोने और नहाने का काम किया जाता था। उस कमरे में हमेशा चिपचिपी उमस भरी रहती थी और अजीब-सी खट्टी-खट्टी गन्ध आती थी। जो लगता था कि हर चीज के अन्दर समायी थी। यहाँ तक कि लेधा की कापी से भी वही गन्ध आती थी। घर के आगे नाली थी जो लगातार जाम रहती थी जिससे आस-पास सड़ी हुई बदबू लगातार बनी रहती थी।

इसी झुग्गी में लक्खन परिवार सहित रहता था।

एक दिन चइयाँ गुस्सायी हुई थी और जोर-जोर से रो रही थी। बाल बिखरे हुए, पेट निकला हुआ काले मसूड़ों वाली चइयाँ अमूमन मार खाने पर भी नहीं रोती। पर उस दिन जरूर कोई और बात थी, मैंने पूछा क्यों रो रही है?क्या तुम लोगों ने मारपीट किया है। भूरी आँखों वाला लेधा तपाक से बोला मैंने नहीं मारा। मैंने कहा तब क्या हुआ?इस पर चइयाँ ने सुबकते हुए बताया, "मम्मी ने लेधा का भी बैग खरीदा था और मेरा भी, जब पढ़ने जाने की बात हुई तो कहती है कि तू मत जा, केवल लेधा जाएगा। तुझे तो दूसरे के घर जाना है।" और फिर रोने लगी।

बाद में पता चला उसकी माँ उसे पढ़ाना चाहती है, लेकिन जब कोई घर पर रहेगा तभी वह बबुआ को छोड़कर काम पर जा पाएगी। ऐसे में चइयाँ को मना करना उसने ज्यादा मुनासिब समझा।

फिर भी दोनों स्कूल नहीं जाते। लेधा उस दिन पढ़ने जाता था जब स्कूल में अनाज मिलता था या वजीफा या कुछ कार्यक्रम वगैरह होता था।

उस परिवार में हमेशा एक आदमी बेरोजगार रहता था और कभी-कभी तो दोनों को काम नहीं मिलता था। ऐसा बहुत कम होता था जब दोनों को काम मिल जाए। इसकी भरपायी वे पीस रेट के कुछ काम–जिसकी 30-40 रुपये दिहाड़ी बनती थी–करके करते थे। इसमें लेधा और चइयाँ उनकी मदद करते थे।

एक दिन चइयाँ ने गैस पर दाल चढ़ा दी थी और चोखे के लिए उसमें आलू भी डाल दिया था। बैठकर चावल चुन रही थी। बबुआ सो रहा था। उसकी मम्मी काम पर से जैसे ही आयी बच्चे हल्ला करने लगे–मम्मी आई... मम्मी आई...। आते ही पति-पत्नी में पंखे को लेकर झगड़ा हो गया।

–'बैठे थे' पंखा नहीं ला सकते थे?तीन दिन हो गया, आज तक तो मिस्त्री ने बना दिया होगा।' उसने गुस्से में लक्खन से पूछा।

–कहाँ से लाता, पैसे कहाँ थे?

–सुबह पचास रुपये दिए थे उसका क्या हुआ?

–वह बबुआ की दवा में खर्च हो गया।

इस बीच उनकी आर्थिक स्थिति बहुत खराब चल रही थी। लक्खन को दो महीने से काम नहीं मिल रहा था। पीस रेट का काम भी ऐसा मिलता था कि दिनभर कमर तोड़ मेहनत के बावजूद 20-30 रुपये ही मिलते, ऊपर से सहन शक्ति को उबाल देने वाली गर्मी पड़ रही थी। कुल मिलाकर घर के हालात ऐसे हो जाते कि रोज़ किसी न किसी बात पर दोनों में झगड़ा हो ही जाता था।

अगले दिन जब वह काम से लौटी तो लक्खन तख्त पर बैठा आकाश के असीम विस्तार को घूर रहा था। जहाँ पर उसके लिए वीरान सूनेपन के अलावा कुछ नहीं था।

–'क्यों आज भी काम नहीं मिला?' घर में घुसने से पहले ही उसने गुस्से से पूछा।

लक्खन की त्योरियाँ चढ़ गयीं। बोला–तुझे क्या पता मैं दिनभर धूल फाँकता फिरता हूँ। कहीं 60-70 रुपये दिहाड़ी का काम भी नहीं मिलता।

वह सिलाई कारीगर था और जब काम मिलता था तो 100-150 दिहाड़ी कमा लेता था। लेकिन इस काम की यही दिक्कत है बैठना ज्यादा पड़ता है।

लक्खन को उसकी बात से गुस्सा बढ़ता ही जा रहा था। उसकी आँखें लाल-लाल हो गयीं। उसकी पत्नी ने कहा, कहीं कोई भी काम कर लो, जल्दी ही दिक्कत खत्म हो जाएगी। फिर 100-150 रुपये दिहाड़ी वाले काम फिर मिल जाएँगे।

वह आग बबूला हो गया। बोला–इस परेशानी का अन्त नहीं होने वाला है।

–घर बैठकर आसमान घूरने से अन्त हो जाएगा?

इसका उसके पास जवाब नहीं था।

वह लाल-लाल आँखें लिए उठकर झुग्गी से बाहर रोड पर चला गया। लेधा और चइयाँ डर के मारे एक कोने में सहमे थे और बबुआ लगातार रो रहा था। जैसे ही उसकी माँ ने उसे गोद में उठाया वह उसकी छाती से जा चिपका लेकिन उसके लिए वहाँ कुछ नहीं था। वह छिटक कर रोने लगा। इसमें उसकी माँ का कोई दोष नहीं था। काम की बेरहम रफ़्तार उसकी ताकत की आखिरी बूँद भी निचोड़ लेती थी। लक्खन के भी दो महीने काम छूट जाने से उसे रोज ओवरटाइम करना पड़ता था। तकरीबन बारह घण्टे से ज्यादा खटना पड़ता था। जिससे दूध ही बहुत कम बनता था। बबुआ इधर पता नहीं क्यों सूखता जा रहा था। उसका शरीर पीला-पीला दिखने लगा था। बुखार था कि हर दूसरे-तीसरे दिन आ जाता था।

एक दिन सुबह आठ बजे बबुआ को तेज बुखार आया। घर में सिर्फ़ लेधा और चइयाँ थे। शाम को जब उसकी माँ काम से लौटी तो बबुआ को दिखाने रोड पर डाक्टर के पास ले गयी। डाक्टर ने कुछ लाल-पीली गोलियाँ दे दी, एक सूई लगा दिया और पचास रुपया लेकर बोला, "ठीक है, कोई बात नहीं, रात में बुखार उतर जाएगा। लेकिन पूरी रात उस बच्चे का शरीर तपता रहा। अगले दिन उसके पास दो रास्ते थे और दोनों ही जरूरी थे। लेकिन उसने काम पर न जाकर बबुआ को दिखाने सरकारी अस्पताल ले जाना ज्यादा जरूरी समझा। लम्बे इन्तजार के बाद साढ़े दस बजे उसका पर्चा बना मगर उस समय डाक्टर ही नहीं था। बबुआ की बिगड़ती हालत देखकर किसी ने सुझाया कि इमरजेंसी में दिखा लो। लेकिन बबुआ इमरजेंसी तक पहुँचने के पहले ही अपनी माँ से रुखसत हो गया।

वह रोते बिलखते घर वापस आ गयी और वहाँ आस-पास के लोग इकट्ठा हो गए। कोई कुछ कहता तो कोई कुछ कहता। परन्तु उसमें ज्यादा तादाद झाड़-फूँक और देवता, पित्तरों को मनाने पर जोर देने वालों की थी।

लक्खन की कम्पनी पर फोन किया गया लेकिन ठेकेदार ने उसे नहीं आने दिया। सभी लोग यह मानकर कि वह अब शाम सात बजे ही आएगा। लाश को दफनाने की तैयारी करने लगे।

धीरे-धीरे शाम ढल गयी। सात बजे लक्खन आया। पहले तो वह लाल-लाल आँखें लिए लाश को घूरता रहा, और अचानक फफक-फफककर रोने लगा।

अगले दिन सुबह उन दोनों के बीच कोई बातचीत नहीं हुई। दोनों भारी मन से पहाड़ जैसे बोझ लिए अपने-अपने काम पर चले गए।

लेधा और चइयाँ उदास आँखें लिए इधर-उधर घूम रहे थे।

बुर्जुआ जनवाद को सजा-सँवार कर पेश करना मजदूर वर्ग के साथ गद्दारी है!

व्ला. इ. लेनिन

जनवाद की सही मार्क्सवादी अवधारणा को लेकर अन्तरराष्ट्रीय मज़दूर आन्दोलन के भीतर समय-समय पर तीखे मतभेद उभरते रहे हैं। मज़दूर वर्ग की पाँतों के बीच से ऐसे 'सिद्धान्तकार' सामने आते रहे हैं जो जनवाद की वर्गीय समझ को धुँधला बनाकर 'विशुद्ध जनवाद' या जनवाद की वर्गेतर समझदारी पेश करते रहे हैं। इतिहास ने खुद दिखाया है कि 'विशुद्ध जनवाद' के ये पैरोकार दरअसल मज़दूर वर्ग के गद्दार ही साबित होते हैं। अपनी प्रसिद्ध रचना 'सर्वहारा क्रान्ति और गद्दार काउत्स्की' में लेनिन ने जनवाद और सोवियत सत्ता के बारे में काउत्स्की के भ्रामक प्रचारों की धज्जियाँ उड़ाकर रख दी है। प्रस्तुत अंश इसी पुस्तक से लिया गया है।

–सम्पादक

"आधुनिक राज्यों के बुनियादी कानूनों को ले लीजिये, उनकी प्रशासन व्यवस्था को ले लीजिये, सभा करने के अधिकार या अख़बारों की स्वतंत्रता को ले लीजिये, ''क़ानून की दृष्टि में सभी नागरिकों की बराबरी'' को ले लीजिये और आपको हर क़दम पर बुर्जुआ जनेवाद की मक्कारी का प्रमाण दिखाई देगा, जिससे हर ईमानदार तथा वर्ग चेतन मज़दूर परिचित है। एक भी राज्य ऐसा नहीं है, चाहे वह कितना ही जनवादी क्यों न हों, जिसके संविधान में ऐसे चोर दरवाज़े या शर्तें न रखी गयी हों, जिनसे बुर्जुआ वर्ग के लिए इस बात की गारण्टी हो जाये कि यदि ''सार्वजनिक सुव्यवस्था भंग हो'' और वस्तुतः यदि शोषित वर्ग अपनी दासता की स्थिति को ''भंग करे'' और दासता के प्रतिकूल आचरण करने की कोशिश करे, तो बुर्जुआ वर्ग मज़दूरों के खिलाफ़ फौजें भेज सकता है, मार्शल लॉ की घोषणा कर सकता है, इत्यादि। काउत्स्की निर्लज्जता से बुर्जुआ जनवाद को बना-सँवार कर पेश करते हैं और, उदाहरण के लिए, इस बात का उल्लेख करना भूल जाते हैं कि अमरीका या स्विट्ज़रलैण्ड के सबसे अधिक जनवादी तथा जनतंत्रवादी बुर्जुआ जन हड़ताली मज़दूरों के साथ क्या सलूक करते हैं।

ओह, बुद्धिमान और विद्वान काउत्स्की इन बातों के बारे में एक शब्द भी नहीं कहते! वह विद्वान राजनीतिज्ञ यह भी नहीं समझते कि इस सवाल पर चुप रहना कमीनापन है। वह मज़दूरों को इस प्रकार की बच्चों जैसी कहानियाँ सुनाना ज्यादा पसन्द करते हैं कि जनवाद का अर्थ है ''अल्पसंख्यकों की रक्षा करना''। बात समझ में नहीं आती, पर है सच! सन 1918 की गर्मियों में, विश्वव्यापी साम्राज्यवादी नरमेध के और संसार के सभी ''जनतंत्रों'' में अन्तरराष्ट्रीयतावादी अल्पसंख्यकों का (अर्थात उन अल्पसंख्यकों का, जिन्होंने रेनोदिल तथा लॉन्गे, शीडेमान तथा काउत्स्की, हेंडेरसन और वेब, आदि जैसे लोगों की तरह समाजवाद के साथ निन्दनीय ढंग से विश्वासघात नहीं किया है) गला घोंटे जाने के इस पाँचवें वर्ष में विद्वान श्री काउत्स्की मधुर स्वर में, बहुत ही मधुर स्वर में ''अल्पसंख्यकों की रक्षा'' का गुणगान करते हैं। जिन लोगों को दिलचस्पी हो, वे इस बात को श्री काउत्स्की की पुस्तिका के 15वें पृष्ठ पर पढ़ सकते हैं। और 16वें पृष्ठ पर यह विद्वान... महानुभाव आपको अठारहवीं शताब्दी में इंग्लैण्ड की ह्विग पार्टी और टोरी पार्टी[1] के बारे में बताते हैं!

ओह, कैसी विद्वत्ता है! ओह, बुर्जुआ वर्ग की कैसी परिष्कृत चाटुकारिता है! ओह, पूँजीपतियों के आगे नाक रगड़ने का, उनके तलुए चाटने का कितना सभ्य ढंग है! यदि मैं क्रुप्प, या शीडेमान, या क्लेमेंसो, या रेनोदिल होता, तो मैं श्री काउत्स्की को लाखों का पुरस्कार देता, जुडस की तरह उन पर चुम्बनों की बौछार कर देता, मज़दूरों के सामने उनकी प्रशंसा करता और उनके जैसे ''मानवीय'' लोगों के साथ ''समाजवादी एकता'' की सिफारिश करता। सर्वहारा अधिनायकत्व के खिलाफ़ पुस्तिकाएँ लिखना, अठारहवीं शताब्दी के इंग्लैण्ड की ह्विग पार्टी तथा टोरी पार्टी

की बात करना जनवाद का अर्थ ''अल्पसंख्यकों की रक्षा'' बताना और अमरीका के ''जनवादी'' जनतंत्र में अन्तरराष्ट्रीयतावादियों के खिलाफ़ संगठित लूटमार के बारे में चुप रहना–क्या यह टुकड़खोरों की तरह बुर्जुआ वर्ग की सेवा करना नहीं है।

विद्वान श्री काउत्स्की एक ''छोटी सी बात'' को ''भूल गये हैं'' शायद संयोगवश भूल गये हैं... वह बात यह है कि बुर्जुआ जनवाद में शासक पार्टी अल्पसंख्यकों की रक्षा का सिद्धान्त केवल दूसरी बुर्जुआ पार्टी पर ही लागू करती है, जबकि सभी गम्भीर, गूढ़ तथा बुनियादी समस्याओं के प्रसंग में सर्वहारा वर्ग को ''अल्पसंख्यकों की रक्षा'' के बजाय मार्शल लॉ या संगठित हत्याकाण्ड मिलता है। जहाँ जनवाद जितना ही विकसित होता है, वहाँ बुर्जुआ वर्ग के लिए खतरनाक किसी भी गहरे राजनीतिक विरोध के प्रसंग में संगठित हत्याकाण्डों और गृहयुद्ध की सम्भावना उतनी ही अधिक नजदीक हो जाती है। विद्वान श्री काउत्स्की जनतांत्रिक फ्रांस में ड्राइफ़स के मुक़दमे[2] के प्रसंग में, अमरीका के जनवादी जनतंत्र में हब्शियों तथा अन्तरराष्ट्रीयतावादियों की निर्मम हत्याओं के प्रसंग में, जनवादी ब्रिटेन में आयरलैण्ड तथा अल्सटर[3] के प्रसंग में, रूस के जनवादी जनतंत्र में बोल्शेविकों के सताये जाने और अप्रैल, 1917 में उनके ख़िलाफ़ बड़े पैमाने पर संगठित हत्या-काण्ड के प्रसंग में बुर्जुआ जनवाद के इस ''क़ानून'' का अध्ययन कर सकते थे। मैंने जान-बूझकर युद्धकाल के ही उदाहरण नहीं, बल्कि ऐसे उदाहरण भी चुने हैं, जो युद्ध से पहले, के शान्तिकाल के हैं। परन्तु मृदुभाषी श्री काउत्स्की को बीसवीं शताब्दी की इन घटनाओं की ओर से आँखें मूँदना बहुत पसन्द है और उसके बजाय वह मज़दूरों को अठारहवीं शताब्दी की ह्विग पार्टी तथा टोरी पार्टी के बारे में आश्चर्यजनक हद तक नयी, बेहद दिलचस्प, असाधारण रूप से शिक्षाप्रद तथा अविश्वसीय हद तक महत्वपूर्ण बातें बताना चाहते हैं।

बुर्जुआ संसद को ले लीजिये। क्या यह सम्भव है कि विद्वान काउत्स्की ने यह बात कभी सुनी भी न हो कि जनवाद का विकास जितने ही अधिक उच्च स्तर का होता है, स्टाक एक्सचेंज और बैंकपति बुर्जुआ संसदों को उतना ही अधिक अपने अधीन कर लेते हैं?इसका मतलब यह नहीं कि हमें बुर्जुआ संसदों का फ़ायदा नहीं उठाना चाहिए (दुनिया की किसी भी और पार्टी की अपेक्षा बोल्शेविकों ने उनका बेहतर ढंग से फायदा उठाया, क्योंकि 1912-1914 में हमने चौथी दूमा[4] में मज़दूरों की सारी निर्वाचक मण्डली में जीत हासिल कर ली थी)। लेकिन इसका यह मतलब जरूर है कि केवल एक उदारतावादी ही बुर्जुआ संसद पद्धति की ऐतिहासिक परिसीमित्ता को और उसके अपेक्षित स्वरूप को उस ढंग से भूल सकता था, जैसे काउत्स्की भूल गये हैं। सर्वाधिक जनवादी बुर्जुआ राज्य में भी उत्पीड़ित जनसाधारण हर क़दम पर पूँजीपतियों के ''जनवाद'' द्वारा उद्घोषित औपचारिक समानता और उन हजारों वास्तविक प्रतिबन्धों तथा तिकड़मों के बीच घोर अन्तर्विरोध का सामना करते हैं, जो सर्वहारागण को उजरती गुलाम बना देती हैं। ठीक यही अन्तर्विरोध है, जो पूँजीवाद के सड़ेपन, झूठ और मक्कारी के बारे में जनसाधारण की आँखें खोल रहा है। यही वह अन्तर्विरोध है, जिसकी क़लई समाजवादी आन्दोलनकर्ता तथा प्रचारक लगातार जनसाधारण के सामने खोल रहे हैं ताकि उन्हें क्रान्ति के लिए तैयार किया जाये! लेकिन जब क्रान्तियों का युग आरम्भ हो चुका है, तब काउत्स्की उसकी ओर से मुँह फेर लेते हैं और मरणासन्न बुर्जुआ जनवाद की सुन्दरता का गुणगान करने लगते हैं।"

नोट :

1. ह्विग और टोरी–इंग्लैण्ड की दो राजनीतिक पार्टियाँ, जो 17वीं शताब्दी के आठवें और नौवें दशकों में स्थापित हुई थीं। ह्विग पार्टी व्यापारी तथा औद्योगिक बुर्जुआ वर्ग के हितों को अभिव्यक्ति करती थी; इसी पार्टी से लिबरल पार्टी का विकास हुआ। टोरी पार्टी बड़े भूस्वामियों और अभिजातों के हितों का प्रतिनिधित्व करती थी। इस पार्टी के आधार पर कंजरवेटिव पार्टी का निर्माण हुआ।

2. ड्राइफ़स का मुकदमा–1894 में फ्रांसीसी फौजशाही के प्रतिक्रियावादी-राजतंत्रवादी हलकों द्वारा फ्रांसीसी जनरल स्टाफ़ के एक यहूदी अफ़सर ड्राइफस पर जासूसी और देशद्रोह के झूठे आरोप में चलाया गया उकसावाभरा मुकदमा, जिसमें उन्हें आजीवन कैद की सजा सुनायी गयी। प्रतिक्रियावादी हलकों ने इसे देश में यहूदी विरोधी भावनाएँ भड़काने और गणतांत्रिक शासन तथा जनवादी स्वतंत्रताओं पर हमला करने के लिए इस्तेमाल किया। 1898 में जब समाजवादियों और प्रगतिशील बुर्जुआ जनवादियों ने, जिनमें एमील जोला, जान जोरेस, अनातोल फ्रांस जैसे लोग भी थे, ड्राइफस के मुकदमे की फिर से सुनवाई के लिए अभियान चलाया, तो मुकदमे ने खुलेआम राजनीतिक शक्ल अख्तियार कर ली। 1899 में जनमत के दबाव के फलस्वरूप ड्राइफस को रिहा कर दिया गया। 1906 में अपील अदालत ने उन्हें निर्दोष ठहराया और सेना में पहले पद पर बहाल कर दिया।

3. यहाँ आशय 1916 में ब्रिटिश सेनाओं द्वारा आयरलैण्ड पर ब्रिटेन के आधिपत्य के विरुद्ध उठ खड़ी हुई आयरिश जनता के विद्रोह के निर्मम दमन से है, जिसमें अल्सटर की फौजों को भी इस्तेमाल किया गया था।

4. राज्य दूमा–रूसी साम्राज्य की एक प्रतिनिधि संस्था, जिसे जारशाही सरकार को 1905 की क्रान्तिकारी घटनाओं के फलस्वरूप मजबूरन बुलाना पड़ा था। औपचारिक रूप से राज्य दूमा विधायिनी संस्था थी, किन्तु अमल में इसे कोई वास्तविक अधिकार प्राप्त नहीं थे। चौथी राज्य दूमा (15 नवम्बर, 1912–25 फरवरी, 1917) में जमींदारों तथा पूँजीपतियों के प्रतिक्रियावादी गुट का पूर्ण प्रभुत्व सुनिश्चित किया गया था, जिसने जारशाही सरकार की नीति का समर्थन किया।

पेज 4 से आगे

'घूस को घूँसा' दिखाकर...

कभी-कभी जब जनता को लुभाने और भरमाने के लिए की जाने वाली कवायदें अनजाने में ही उन सीमाओं को लाँघ जाती हैं जो व्यवस्था के लिए नये संकट पैदा कर सकती हैं तो ऐसी कवायदों पर लगाम लगाना जरूरी हो जाता है। सूचना के अधिकार क़ानून के साथ यही हो रहा है। सरकार को अनुमान नहीं था कि सूचना का अधिकार क़ानून उस नौकरशाही तंत्र को परेशानी में डाल सकता है जिसके जरिये उसे जनता पर हुकूमत गाँठनी है। इसका अहसास होते ही वह 'भूल-सुधार' की कवायदों में जुट गयी है।

हमें यह अच्छी तरह समझना चाहिए कि पूँजीवादी वर्ग व्यवस्था जो इतिहास का सबसे उन्नत वर्ग समाज और सबसे उन्नत शोषण प्रणाली है, न केवल एक जटिल आर्थिक प्रणाली है बल्कि जटिल और कुटिल राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक-वैधिक-वैचारिक प्रणाली भी है। फ्रांस के महान उपन्यासकार बाल्जाक्र ने जब यह कहा था कि हर सम्पत्ति-साम्राज्य अपराध की बुनियाद पर खड़ा होता है तो वह यही उजागर कर रहे थे कि पूँजीवाद अपने शुद्धतम रूप में भी स्वयं एक अपराध है। वह स्वयं एक भ्रष्टाचार है। इसलिए, सवाल पूँजीवादी व्यवस्था में अपराध, भ्रष्टाचार और अनैतिकता का नहीं है। पूँजीवाद अपने आप में एक अनैतिक व्यवस्था है।

इसलिए, राजनीति और प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार को दूर कर देने (अगर ऐसा हो सका तो) मात्र से गरीबी, बेरोजगारी, असमानता और लूट खत्म नहीं हो जायेगी। जब तक देशी पूँजीपतियों और साम्राज्यवादियों की लूट बनी रहेगी ये समस्याएँ बनी रहेंगी। समाधान एक ही है और वह है पूँजीवादी व्यवस्था को ही इतिहास की कचरा-पेटी के हवाले करना और एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना जिसमें उत्पादन, राजकाज और समाज के पूरे ढाँचे पर उत्पादन करने वाले लोग काबिज हों और फैसला लेने की ताक़त वास्तव में उनके हाथों में हो। साम्राज्यवाद और पूँजीवाद की बेड़ियों को तोड़कर ही ऐसी सामाजिक -आर्थिक -राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण किया जा सकता है।

लेकिन सूचना के अधिकार क़ानून को हथियार बनाकर जोशीले ढंग से ''घूस को घूँसा'' मारने का दम भरने वाले एन.जी.ओ. आम जनता को इस समाधान की ओर ले जाने से बचाना चाहते हैं। वे जनता के गुस्से की धार पूँजीवाद-साम्राज्यवाद की ओर मुड़ जाने से बहकाना चाहते हैं जिससे वह व्यवस्था द्वारा निर्धारित चौहद्दियों के भीतर कदम-ताल करती रहे। किसिम-किसिम के ये एन.जी.ओ. पूँजीवादी समाज के भीतर एक ऐसी आधुनिक लाँड्री का काम कर रहे हैं जिसका काम पूँजीवाद के दामन पर पड़े खून के छींटों को साफ़ कर गुनाहों के सबूत मिटाना है। मेहनतकश जनता को इनके चक्करों में नहीं पड़ना चाहिए और मानव इतिहास की ही बुराई बन चुके पूँजीवाद के खात्मे के प्रयासों को तेज कर देना चाहिए।

नारी सभा

लूट, ठगी और अपराध की बुनियाद पर टिकी पूँजीवादी व्यवस्था को खत्म करके ही समाज में स्त्री का सम्मान लौटाया जा सकता है!

समाज में नैतिकता के गिरते हुए स्तर को लेकर आज हर दूसरा व्यक्ति चिन्ता प्रकट करते हुए नज़र आ जाता है। और यदि इस नैतिकता का सम्बन्ध स्त्री जाति से हो तब तो इतनी चिल्ल-पों, हायतौबा मच जाती है कि पूछिये मत।

बलात्कार, छेड़खानी, दहेज हत्या जैसी सभी घटनाओं के लिए ज़िम्मेदार उस स्त्री को ही ठहराया जाता है, कि वह अकेले कहाँ निकली ही क्यों? उसने ऐसे कपड़े ही क्यों पहने कि पुरुषों का संयम डोल जाये, उसने चुपचाप सबकुछ क्यों नहीं सहा? आदि-आदि वक्तव्यों से यही साबित किया जाता है कि पुरुषों द्वारा स्त्री पर कोई अत्याचार किया जाता है तो इसके लिए दोषी स्त्री ही है। स्त्री को अपनी मर्यादा में रहना चाहिए जो पुरुष प्रधान समाज ने उसके लिए बनाये हैं। यह तो हुई उन स्त्रियों की बात जिनकी अपनी अलग कोई पहचान नहीं है, और जिन्हें किसी की माँ, बहन, बेटी होने का दर्जा प्राप्त है। दूसरी ओर स्त्रियों की एक जाति ऐसी भी है जिन्हें घोषित तौर पर अनैतिक और समाज की बुराइयों का जड़ माना जाता है। इनके लिए हर शहर में अलग बस्तियाँ बसायी जाती है, जहाँ शराफत और नैतिकता के ठेकेदार समाज की नज़रों से छुपकर पधारते हैं। इन बस्तियों को रेड लाइट एरिया के नाम से जाना जाता है। और इसमें रहने वाली स्त्रियों को वेश्या के नाम से पहचाना जाता है।

वेश्या यानी जो अपना शरीर बेचकर जीवन यापन करती है, जो समाज में अनैतिकता फैलाती है, जो समाज के लिए एक कोढ़ के समान है।

वेश्यावृत्ति को एक अपराध माना जाता है और इसे रोकने के लिए समाज के ठेकेदारों द्वारा कई कानून बनाये गये हैं, फिर भी यह रुकने का नाम नहीं ले रही है। इस सम्बन्ध में एक गैर सरकारी संगठन ग्राम नियोजन केन्द्र द्वारा देशभर के सभी 31 राज्यों व केन्द्र शासित प्रदेशों में एक सर्वे किया गया। जिसके अनुसार वेश्यावृत्ति के इन धन्धे में 10 लाख लड़कियाँ ऐसी हैं जिसकी उम्र 18 साल से कम है तथा इस धंधे की बढ़ोत्तरी की दर जनसंख्या बढ़ोत्तरी की दर से भी पाँच गुना ज्यादा है। सर्वे के अन्तर्गत वेश्यावृत्ति की शिकार लगभग साढ़े नौ हजार महिलाओं व बच्चों से की गई बातचीत में यह बात उभरकर सामने आयी कि इसमें 90 फीसदी लड़कियों की उम्र 15 से 35 साल है और इसमें ज्यादातर आन्ध्र प्रदेश, बंगाल, बिहार, महाराष्ट्र, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश व उत्तर-पूर्वी राज्यों से आई वे लड़कियाँ हैं जो गरीबी, अशिक्षा, जातिगत परम्पराओं की शिकार हैं। इसके अतिरिक्त 1794 जगहों से (22 राज्यों से) इस व्यापार के लिए लड़कियों की आपूर्ति की जा रही है और जबरन उन्हें इसमें धकेला जा रहा है।

वेश्यावृत्ति की इस बढ़ती प्रवृत्ति और आबादी से आजकल सरकार, अदालत तथा तमाम एन.जी.ओ. काफी चिन्तित नज़र आ रहे हैं। देहव्यापार के लिए बालिकाओं की तस्करी की घटनाओं से चिन्तित सुप्रीम कोर्ट की एक पीठ ने एक जनहित याचिका की सुनवाई करते हुए पश्चिम बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, गोवा, महाराष्ट्र, कर्नाटक और तमिलनाडु के मुख्य सचिवों को आदेश दिया है कि वे इस समस्या पर काबू पाने की रणनीतियों के विवरण सहित अपना जवाब छः सप्ताह के भीतर दें। सुप्रीम कोर्ट के न्यायमूर्ति के.जी. बालकृष्णन, तरुण चटर्जी और डी.के. जैन की इस पीठ को चिन्ता में डालने का श्रेय जाता है एन.जी.ओ. शक्ति वाहिनी द्वारा दायर की गयी जनहित याचिका को। इस जनहित याचिका में आरोप लगाया गया है कि बालिकाओं और महिलाओं की तस्करी उनके मानवधिकारों और संविधान प्रदत्त मौलिक अधिकारों का उल्लंघन है।

अब सवाल उठता है कि यह व्यापार फलता-फूलता कैसे है?और इसके साथ किन लोगों का हित जुड़ा हुआ है! क्या इसके लिए वे लड़कियाँ दोषी हैं? जो इन पेशे में जबरन या परिस्थितियों वश ढकेल दी गयी हैं या गरीबी पैदा करने व समाज को अनैतिक मूल्यों से लैस करने वाली, बाज़ार व मुनाफ़े पर टिकी हुई वह अनैतिक पूँजीवादी व्यवस्था है, जिसकी बुनियाद ही श्रम की लूट, ठगी व अपराध है।

दरअसल यह कुछ लोगों के लिए कमाई और तरक्की का अच्छा-खासा जरिया है और इसे बनाये रखने के लिए वे हफ्ता पहुँचाने से लेकर लड़की सप्लाई करने का सहारा लेते हैं और इसकी आड़ में कई धन्धे तेजी से फलते-फूलते हैं। इसे जानने के लिए बस उन खबरों पर ही नज़र दौड़ा लेना काफी होगा, जिसमें ऐसी जगहों से जुड़े हुए सांसदों, विधायकों, सेना व पुलिस अफसरों के नाम सुर्खियों में इत्तेफाक से आ जाते रहे हैं। अभी-अभी घाटी कश्मीर में सेक्स रैकेट का भण्डाफोड़ और उसमें लिप्त अफसरों, राजनैतिकों के नाम इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। वेश्यावृत्ति की रोकथाम के लिए कानून बनाने से लेकर उसे अमली जामा पहनाने वालों के हाथ जब इसमें रंगे हुए हों तो इसके प्रति उनके चिन्तित होने के नाटक को आसानी से समझा जा सकता है।

आज इस मुनाफ़ा केन्द्रित बाज़ार व्यवस्था में वेश्यावृत्ति के पेशे में एक और चीज़ जुड़ गयी है कि एक तरफ तो जहाँ गरीबी की मार से मज़बूर होकर या बहला-फुसलाकर स्त्रियों को जबरन इस पेशे में ढकेल दिया जाता है वहीं आज उच्चवर्ग की लड़कियाँ इसे बतौर अपने कैरियर के रूप में भी अपना रही हैं और अब इन्हें वेश्या के अलावा कॉल गर्ल, बार गर्ल, सेक्स वर्कर आदि कई नामों से भी नवाजा जाता है। यानी इस पेशे का भी एक वर्गीय चरित्र बन गया है।

दरअसल हम जिस पूँजीवादी व्यवस्था में साँस ले रहे हैं वह लोगों के शोषण-उत्पीड़न के दम पर ही टिकी हुई है, इसकी बुनियाद ही अनैतिक है। बेहिसाब महंगाई, बेरोजगारी, तेजी से बढ़ती असमानता, अपराध, वेश्यालय, ब्लू फिल्में, अश्लील पत्रिकाएँ, माफिया गिरोह, आत्महत्यायें–ये सब इसी व्यवस्था की देन हैं। यहाँ जीवन की न्यूनतम सुविधाएँ तक जुटा पाने में असफल गरीब परिवारों की स्त्रियाँ दुनिया के सबसे पुराने पेशे के पंककुण्ड में धँसती जा रही हैं। वहीं दूसरी ओर इस बाज़ार व्यवस्था की शिकार स्त्रियाँ अपनी बाज़ार उत्प्रेरित लालसाओं, चाहतों व कृत्रिम ज़रूरतों को पूरा करने के लिए अपने शरीर को साधन बना रही हैं और अनैतिकता पर टिकी हुई इस पूँजीवादी व्यवस्था में अनैतिक मूल्यों से लैस लोग अपनी भूख व सनक मिटाने के लिए औरत के गोश्त की खरीद बिक्री कर रहे हैं।

स्त्रियों को इस नारकीय अपमानजनक स्थिति से निकालने का बस एक ही रास्ता बचता है कि इसके लिए ज़िम्मेदार इस पूँजीवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंका जाये, और एक ऐसी समाजवादी व्यवस्था कायम की जाये जहाँ स्त्री को बराबरी का अधिकार मिले, वह अपनी अस्मिता, अपनी पहचान के साथ समाज को आगे ले जाने में अपना योगदान दे सके जहाँ सम्मान के साथ उसे जीने का अधिकार मिले। जहाँ गरीबी और मज़बूरी का लाभ उठाकर किसी स्त्री को शरीर बेचने को मज़बूर न किया जा सके। इसके लिए इस पूँजीवादी निजाम को जड़ से उखाड़ फेंकना होगा और एक नये समाजवादी समाज का निर्माण करना होगा।

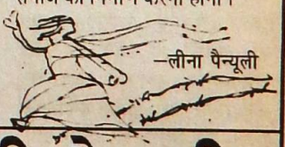

–लीना पैन्यूली

भारतीय रेल को निजी हाथों में सौंपने की तैयारी

कार्यालय संवाददाता

विमानन क्षेत्र की तरह अब भारतीय रेल को भी निजी हाथों में देने की गुपचुप तैयारियाँ चल रही हैं। रेलवे के खान-पान और सफाई जैसे कामों को निजी कम्पनियों के हाथों में सौंपने के बाद अब रेलवे की सबसे बड़ी कमाई का साधन ढुलाई व्यवस्था को निजी हाथों में देने की सरकारी कवायद जारी है।

उल्लेखनीय है दुनिया में भारतीय रेलवे ही है जिसके पास खुद के कारखाने और रेल सामग्रियों की मरम्मत इकाइयाँ हैं। भारतीय रेलवे के पास इस समय 14 हजार ट्रेनें, 7031 स्टेशन और सामान बनाने के छह कारखाने हैं जिस पर विश्व बैंक और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की नज़र टिकी हुई है। कर्ज के बदले अपनी पसंदीदा कम्पनियों को काम दिलाकर विश्व बैंक भारतीय रेल को अपने जाल में फँसाने की तैयारियों में लगा हुआ है। इस सम्बन्ध में माल ढुलाई में अग्रणी मानी जाने वाली जर्मनी की कम्पनी रेल ऑन व अमेरिकी कम्पनी एमट्रेक का नाम प्रमुख रूप से ऊपर आ रहा है। शिपिंग व परिवहन क्षेत्र की सबसे बड़ी डेनमार्क की मर्क्स कम्पनी तो भारत में पधार भी चुकी है और मुम्बई में रेलवे की कम्पनी कनकोट के साथ बन्दरगाह पर काम भी कर रही है। ब्रिटेन में ट्रेन परिचालन करने वाली कम्पनी कनेक्स व वर्जिन एयरलाइंस की रेल कम्पनी भी इस लाइन में लगी हुई है। इसके अतिरिक्त कुछ कम्पनियाँ ऐसी भी हैं जिन्होंने भारत ने इंजन, डिब्बे और टेक्नॉलाजी खरीदे हैं। बताया जाता है कि विगत 24 व 25 जनवरी को सिमेन्स कम्पनी के उपाध्यक्ष मार्टिन हारमन के नेतृत्व में छह सदस्यीय टीम के साथ कपूरथला कारखाने के प्रमुख समेत रेलवे के अधिकारियों की एक बैठक हुई जिसमें कपूरथला कारखाने को निजी कम्पनी के साथ मिलाने की सारी बातें तय हो चुकी थीं लेकिन ऐन वक्त पर कर्मचारियों के हड़ताल पर चले जाने व एक कर्मचारी द्वारा आत्महत्या कर लेने से यह करार पूरा न हो सका। रेलमंत्री लालू प्रसाद यादव द्वारा उक्त कारखाने के लिए बाहरी मदद लेने का उल्लेख किया जाना भी इस बात का प्रमाण है। इस सम्बन्ध में सीमेन्स कम्पनी का सवारी डिब्बा बनाने का कारखाना देखने के लिए रेलमंत्री ने विगत 30 जून को वियना (आस्ट्रिया) की यात्रा भी की।

इधर विश्व बैंक के प्रबल हिमायती योजना आयोग व वित्त मंत्रालय भी इस बात पर निरन्तर जोर दे रहे हैं कि रेलवे को कई कम्पनियों व निगमों में तब्दील कर दिया जाये। इसमें जापान भी काफी दिलचस्पी ले रहा है और उसकी टीमें ढुलाई के लिए बनाये जाने वाले रेल मार्ग का ठेका हथियाने के लिए भारत की यात्राएँ कर रही हैं। इस सम्बन्ध में जापान ने रेलवे ढुलाई का अधिकतम हिस्सा अपनी ओर खींचने के लिए मालगाड़ियों के लिए अलग रेलमार्ग बनाने की भी योजना बनाई है जिसके लिए 20 हजार करोड़ से अधिक रुपये की ज़रूरत है। जाहिर है इतने रुपयों के इंतजाम के लिए रेलवे को विश्व बैंक, निजी क्षेत्र व बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के पास जाना होगा। और इतना कर्ज नहीं चुका पाने की स्थिति में रेलवे को अपनी इकाइयों को बेचना पड़ सकता है और इन सारी कवायदों का नतीजा भुगतना पड़ेगा रेलवे से जुड़े हुए लाखों कर्मचारियों को। पहले ही रेलवे के लाखों कर्मचारी नई आर्थिक नीति के तहत नौकरियों से बाहर किये जा चुके हैं और अब बाकी बचे कर्मचारियों के सिर पर निजीकरण की यह दोधारी तलवार लटक रही है।

इधर गरीबों के मसीहा रेलमंत्री लालू प्रसाद यादव यह मानने को तो तैयार नहीं हैं कि रेलवे को निजी हाथों में देने की तैयारी हो रही है वहीं दूसरी तरफ यह भी कहते नज़र आ रहे हैं कि आखिर निजी क्षेत्र मुनाफ़ा कमाने के लिए ही पैसा लगायेगा और इस पैसे की रेलवे को सख्त ज़रूरत है। इसे कहते हैं मार भी खाओ चिल्लाओ भी न।

लुब्बेलुबाब यह कि इस देश के पूँजीपति शासक वर्गों ने अपने मुनाफ़े की हवस को शान्त करने के लिए 'जनता की सम्पत्ति' कहे जाने वाले रेलवे को निजी हाथों के सौंपने का और रेल कर्मचारियों की ज़िन्दगी का सौदा करने का इरादा पक्का कर लिया है अब सोचना जनता को है कि वे अपनी ज़िन्दगी की बागडोर इन लुटेरों के हाथ में देकर तमाशा देखते रहेंगे या इन्हें नेस्तनाबूत करने की पहलकदमी अपने हाथों में लेंगे।

कविता

राज्यसत्ता

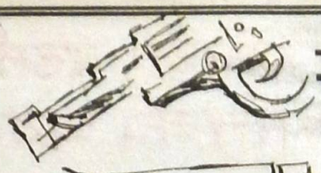

राज्यसत्ता
तिहाड़ की दीवार है
भागलपुर की तेजाब है
अंतुले की नैतिकता और
जगन भाई का लोकतंत्र है।

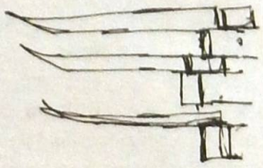

राज्यसत्ता
अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का
कानून है
और जो इस कानून की जद में है
उसे बोलने नहीं देती राज्यसत्ता।

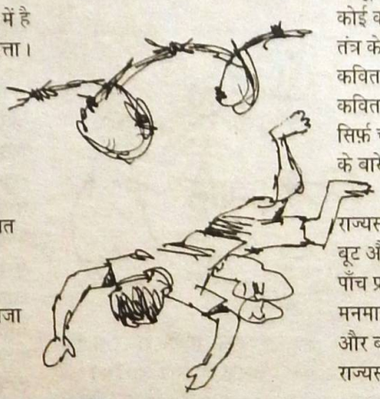

राज्यसत्ता
'प्रजातंत्र' का प्रजापति है
और 'प्रजा' अगर 'तंत्र' से
टकराती है कभी
तो तंत्र की हिफ़ाजत में तैनात
बन्दूक की नाल से
बोलती है राज्यसत्ता—
कि सुनो मेरी प्यारी-प्यारी प्रजा
तुम्हें तंत्र के भीतर ही
प्रजा होने का हक़ है

पुलिस और फ़ौज
सचिवालय और न्यायालय
कर्फ़्यू और गोली
प्रजा और तंत्र के सम्बन्धों की
संवैधानिक व्याख्याएँ हैं।
राज्यसत्ता कहती है—
कविता को नहीं होना चाहिए
राज्यसत्ता के बारे में
क़ानून के बारे में नहीं होनी चाहिए
कोई कविता
तंत्र के बारे में
कविता को नहीं होना चाहिए
कविता को होना चाहिए
सिर्फ़ चाहिए जैसी कविता
के बारे में।

राज्यसत्ता अस्सी प्रतिशत लोगों की आँख में
बूट और बारूद की सत्ता है,
पाँच प्रतिशत लोगों के हाथ में
मनमाना राज्य
और बाकी हम जैसों के दिमाग में
राज्यसत्ता।

और तमाम किताबों
और संविधानों और भाषणों के बाद
अंततः राज्यसत्ता
सीसे की ढली हुई
दो औंस की गोली है।
इस वक़्त दिन में
जब ठीक बारह बजकर
ठीक दो मिनट हुए हैं
तब क्या यह बिखरी-बिखरी-सी कविता
राज्यसत्ता से पूछ सकती है
कि ठीक इस वक़्त
राज्यसत्ता
दो औंस के सीसे में ढलकर
किस शहर के
किस जुलूस के
किस मनुष्य के सीने के
गरम-गरम ज़िन्दा रक्त में
मृत्यु बनकर
प्रवेश कर रही है?

उदय प्रकाश

रपट : स्मृति संकल्प यात्रा

आजाद के जन्मशताब्दी वर्ष पर आयोजन

क्रान्तिकारियों की याद को अनुष्ठान मत बनाओ! नई जनक्रान्ति की मशाल जलाओ

बिगुल संवाददाता

इलाहाबाद। चन्द्रशेखर आज़ाद की जन्मशताब्दी वर्ष के अवसर पर एक ओर जहाँ चुनावी पार्टियों के नेता जनता को गुमराह करने के लिए आज़ाद की प्रतिमा पर फूल-मालाएँ चढ़ा रहे थे और कुछ सुधारवादी संगठनों द्वारा आनुष्ठानिक कार्यवाही की जा रही थी, वहीं दूसरी ओर 'दिशा छात्र संगठन' और 'नौजवान भारत सभा' द्वारा 'स्मृति संकल्प यात्रा' के तहत जनक्रान्ति की मशाल जलाने के लिए नौजवानों को आह्वान किया जा रहा था।

इलाहाबाद में चार दिवसीय कार्यक्रम के तहत शहर के विभिन्न इलाकों में नुक्कड़ सभाएँ, नुक्कड़ नाटकों, क्रान्तिकारी साहित्य व पोस्टरों की प्रदर्शनियाँ, प्रभात फेरियों, व्यापक पर्चा वितरण और सघन जन-सम्पर्क का कार्यक्रम लिया गया।

कार्यक्रम की शुरुआत इलाहाबाद विश्वविद्यालय के विभिन्न छात्रावासों में प्रभातफेरियाँ निकालकर की गई। इसके बाद छात्रसंघ भवन के गेट पर क्रान्तिकारी साहित्य व पोस्टरों की प्रदर्शनी लगाकर व्यापक पर्चा वितरण किया गया। शाम को इंजीनियरिंग कॉलेज चौराहे पर नुक्कड़ सभा की गई, जिसमें छात्रों को सम्बोधित करते हुए 'दिशा छात्र संगठन' के अरुण ने कहा कि छात्रों को चुनावी पार्टियों का पिछलग्गू बनने से बचना होगा। आज़ाद और भगतसिंह के विचार अनवरत जलती मशाल की तरह नौजवानों को रास्ता दिखा रहे हैं। अब नौजवानों को नए सिरे से क्रान्तिकारी जनसंगठन बनाने होंगे और सुधारवाद के भ्रमों से मुक्त होकर नई जनक्रान्ति की मशाल जलानी होगी।

दिशा और नौभास के साइकिल जत्थे ने यात्रा वैन के साथ पूरे शहर भर में जन-जन तक यह विचार पहुँचाया कि आज़ाद सिर्फ़ बम और पिस्तौल वाले क्रान्तिकारी नहीं थे, बल्कि वह भी भगतसिंह और अन्य क्रान्तिकारियों की तरह हर प्रकार के शोषण का खात्मा करके साम्राज्यवाद और पूँजीवाद को जड़ से उखाड़ फेंकना चाहते थे। आज आज़ाद, भगतसिंह और अन्य क्रान्तिकारियों को याद करने का बस यही एक तरीका हो सकता है कि उनके विचारों को, जिन्हें सत्ताधारियों की साजिश के तहत लोगों तक पहुँचने से रोका गया है, उसे जन-जन तक पहुँचाया जाए और एक क्रान्तिकारी बदलाव की तैयारी की जाए।

आज़ाद की जन्मशताब्दी की पूर्व संध्या पर 22 जुलाई को विचार-गोष्ठी आयोजित की गई। जिसका विषय था—'विकल्पहीनता का संकट और नौजवानों का रास्ता'। गोष्ठी का संचालन करते हुए दिशा छात्र संगठन की नमिता ने कहा कि आज़ाद की जन्मशताब्दी पर हम कोई अनुष्ठान नहीं कर रहे हैं, बल्कि उनके सपनों को पूरा करने के लिए नए सिरे से संकल्प ले रहे हैं, क्योंकि शोषक-शासक जमातें हमेशा से ही हमारे क्रान्तिकारी नायकों के विचारों पर धूल-राख डालने की कोशिश करती रही हैं। वे क्रान्तिकारियों की बहादुरी का तो बखान करती हैं, लेकिन उनके विचारों को जनता तक पहुँचने से रोकने की तमाम कुत्सित साजिशें रचती रहती हैं।

'दायित्वबोध' के सम्पादक अरविन्द सिंह ने कहा कि साम्राज्यवाद और विश्वपूँजीवादी तंत्र गहरे संकटों से घिरा हुआ है। भूमण्डलीकरण की नीतियाँ इन संकटों से बाहर निकलने की कवायदें हैं। आज नौजवानों को देशी-विदेशी पूँजी की लूट के खिलाफ़ खुद भी संगठित होना होगा और देश की मेहनतकश जनता को भी संगठित करते हुए पूँजीवाद-साम्राज्यवाद विरोधी नई समाजवादी क्रान्ति के रास्ते पर चलना होगा।

अन्त में गोष्ठी की अध्यक्षता करते हुए सुश्री कात्यायनी ने कहा कि

आज समाज की निगाहें नौजवानों पर टिकी हैं, क्योंकि इतिहास गवाह है कि नौजवान हमेशा ही परिवर्तन के आन्दोलनों की अगली क़तारों में रहते आए हैं। आज नौजवानों को एक बार फिर से इतिहास के पुराने दौ के जनता के मुक्तिसंघर्षों की विरासत को आत्मसात करते हुए नए दौर की क्रान्तियों की तैयारियों में जुट जाना होगा।कार्यक्रम का समापन 23 जुलाई को चन्द्रशेखर आज़ाद की प्रतिमा के पास संकल्प सभा के साथ हुआ। 'दिशा' और 'नौभास' के कार्यकर्ताओं का साइकिल जत्था यात्रा वैन के साथ नारे लगाता हुआ आज़ाद प्रतिमा पर पहुँचा। वहाँ आज़ाद की प्रतिमा पर फूल-माला चढ़ाकर क्रान्तिकारी श्रद्धांजलि दी गई। सभा स्थल पर क्रान्तिकारी विचारों पर आधारित साहित्य और पोस्टरों की प्रदर्शनी भी लगाई गई।

संकल्प सभा के बाद यात्रा जत्थे ने बेरोजगारी की समस्या पर केन्द्रित एक नुक्कड़ नाटक 'राजा का बाजा' का मंचन किया। नाटक में इस देश की शिक्षा व परीक्षा प्रणाली और शिक्षा व्यवस्था की भ्रष्ट अफ़सरशाही के शिकंजे में फँसे एक बेरोजगार नौजवान का मार्मिक चित्रण है, जिसने दर्शकों को सोचने पर मजबूर किया।

कार्यकर्ताओं ने क्रान्तिकारी समूहगान की ओजपूर्ण प्रस्तुति करते हुए कार्यक्रम का समापन किया और कहा कि यह सिर्फ़ कार्यक्रम का समापन है, नयी जनक्रान्ति की तैयारी का सिलसिला चलता रहेगा, कारवाँ बढ़ता रहेगा।

देश में आमूलचूल परिवर्तन की जरूरत है

नोएडा। शहीद चन्द्रशेखर आज़ाद के जन्मशताब्दी के अवसर पर 23 जुलाई को एक विचार-गोष्ठी का आयोजन नोएडा सेक्टर-12 के राजकीय इण्टर कालेज में किया गया। विचार-गोष्ठी का आयोजन नौजवान भारत सभा द्वारा स्मृति संकल्प यात्रा के अन्तर्गत किया गया था। इस ऐतिहासिक मौके पर आयोजित गोष्ठी का विषय था—'क्रान्तिकारी विरासत और नौजवानों का रास्ता'।

गोष्ठी में वक्ताओं ने कहा कि भगतसिंह, चन्द्रशेखर आज़ाद समेत सभी क्रान्तिकारियों का मकसद सिर्फ़ गोरे अंग्रेजों को हटाकर काले अंग्रेजों को सत्ता सौंपना नहीं था बल्कि वे तो पूरी शोषणकारी व्यवस्था को ही आमूलचूल बदलकर नया सामाजिक ढाँचा खड़ा करना चाहते थे। एक ऐसी व्यवस्था जिसमें इंसान द्वारा इंसान का शोषण न हो सके। दुर्भाग्य से क्रान्तिकारियों का वह सपना अधूरा रह गया जिसे पूरा करने की ज़िम्मेदारी इतिहास ने मेहनतकशों के कन्धों पर डाली है। उसी विरासत से प्रेरणा लेते हुए मेहनतकशों को अपना रास्ता चुनना होगा।

वक्ताओं का कहना था कि ये कैसी आज़ादी है जिसमें श्रम लूटने की खुली छूट मालिकों को मिली हुई है। जो मेहनत करके सारी दुनिया को जीने लायक बनाता है वही बुनियादी मानवीय सुविधाओं तक से वंचित है। नोएडा की फैक्ट्रियों के हालात के बारे में एक अन्य वक्ता ने बताया कि यहाँ पर 12 से लेकर 16 घण्टे और कभी-कभी तो 1-2 दिन लगातार जबर्दस्ती काम कराया जाता है। काम के हालात बहुत खराब हैं। खूब खींचकर काम लिया जाता है और सुपरवाइजर व ठेकेदार मज़दूरों से गुलामों की तरह बर्ताव करते हैं। सबसे बुरी हालत तो महिला मज़दूरों की है, उनको दोहरी गुलामी का शिकार होना पड़ता है।

गोष्ठी के अन्य वक्ताओं ने कहा कि अक्सर मज़दूरों को बेवजह काम से निकाल दिया जाता है। फिर पैसों के लिए बहुत दौड़ाया जाता है। कइयों के पैसे दबा लिये जाते हैं और ज्यादा बोलने वाले मज़दूरों को गुण्डों और पुलिस से पिटवा दिया जाता है। उन्होंने भगतसिंह की इन पंक्तियों का हवाला दिया कि—समाज का प्रमुख अंग होते हुए भी आज मज़दूरों को उनके प्राथमिक अधिकार से वंचित रखा जा रहा है और उनकी गाढ़ी कमाई का सारा धन शोषक पूँजीपति हड़प जाते हैं।

गोष्ठी में यह बात उभरकर सामने आयी कि हमें भगतसिंह का यह सन्देश—"क्रान्ति की अलख देश के कोने-कोने में, फैक्ट्री-कारखानों के क्षेत्रों में, गन्दी बस्तियों और गाँवों की जर्जर झोपड़ियों में रहने वाले करोड़ों लोगों में जगानी है।" याद रखना होगा और विचारों को जनता के बीच ले जाना होगा। अन्त में चन्द्रशेखर आज़ाद के सेनापतित्व वाली एच.एस.आर.ए. के इस उद्घोष का संकल्प लेकर विचार-गोष्ठी समाप्त हुई कि "भारत में हम भारतीय श्रमिक के शासन से कम कुछ नहीं चाहते।... साम्राज्यवादियों और उनके मददगारों को गद्दी से उतारने का एकमात्र हथियार श्रमिक क्रान्ति है। कोई और चीज इस उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकती।"

गोष्ठी की शुरुआत क्रान्तिकारी गीत 'ज़िन्दगी लड़ती रहेगी, गाती रहेगी' से और अन्त 'आँखों में हमारी नई दुनिया के ख्वाब हैं' से हुई। गोष्ठी के साथ पुस्तक प्रदर्शनी और क्रान्तिकारी उद्धरणों व कविताओं वाले विचारोत्तेजक पोस्टरों की प्रदर्शनी भी लगायी गयी थी। गोष्ठी में छात्रों-नौजवानों व मज़दूरों ने बड़ी संख्या में भाग लिया। ●

जनता की तबाही-बर्बादी की जिम्मेदार बढ़ती हुई जनसंख्या नहीं बल्कि, निजी सम्पत्ति की व्यवस्था है

आज यदि किसी से गरीबी, बेरोजगारी, भुखमरी, सड़क पर बढ़ती भीड़, भूकम्प, बाढ़, बढ़ते प्रदूषण आदि समस्याओं पर बात करें तो झट सुनने को मिल जाता है कि इसका कारण तो बढ़ती हुई जनसंख्या है। यानी समाज की सभी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक समस्याओं की ज़िम्मेदार बढ़ती हुई जनसंख्या है। इससे यह बात साबित होती है जनता की तबाही-बर्बादी के पीछे सत्ताधारी शोषक वर्ग का कोई हाथ नहीं है बल्कि खुद वह जनता है जो लगातार जनसंख्या में वृद्धि कर रही है। समाज के व्यापक हिस्से में इस विचार ने कैसे अपना पैर फैलाया इसे जानना काफी दिलचस्प होगा।

1789 में सम्पन्न फ्रांसीसी क्रान्ति के नेता और दार्शनिक मार्क्विस दे कंदोर्से ने एक पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने मानव इतिहास का एक शानदार चित्र प्रस्तुत किया, जो आशावादिता से भरपूर था। पुस्तक में कई अन्य महत्वपूर्ण बातों के अतिरिक्त यह चर्चा भी की गयी थी कि कोई भी समाज व्यवस्था स्थायी नहीं है। समाज दासता और अंधविश्वास से निकल कर स्वतंत्रता और बुद्धि की पूर्णता की ओर जायेगा और कोई भी शक्ति उसे रोक नहीं पायेगी। कंदोर्से ने मानव इतिहास को दस चरणों में बाँटा और दसवें चरण में तीन बातों का उल्लेख किया। पहला, राष्ट्रों के बीच विषमता खत्म हो जायेगी। दूसरा, हर राष्ट्र के अन्दर समानता की प्रगति होगी और तीसरे मानव जाति सम्पूर्णता की ओर बढ़ेगी और इसकी प्रगति को रोकने वाली सांस्थनिक व्यवस्थाएँ और उत्पादन सम्बन्ध उखाड़ फेंके जायेंगे। उन्होंने कहा कि एशिया और अफ्रीका की जनता औपनिवेशिक गुलामी की बेड़ियों को तोड़ फेंकेगी और पाश्चात्य वैज्ञानिक ज्ञान और आविष्कारों को अपना कर पश्चिमी देशों की बराबरी में आ जायेगी। इस वैज्ञानिक प्रगति के फलस्वरूप भौतिक वस्तुओं की गुणवत्ता काफी बढ़ जायेगी तथा जमीन से होने वाली पैदावार को सीमित करने वाला कोई कारक नहीं रह जायेगा, यानी कम

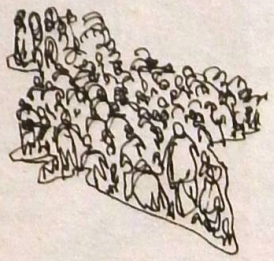

भूमि, कम श्रम और थोड़े खर्च में इतनी उपज होगी कि सबकी आवश्यकताएँ पूरी की जा सकेंगी बशर्ते उत्पादन के साधन निजी स्वामित्व से मुक्त हों। कंदोर्से की 1794 में छपी इस पुस्तक ने ब्रिटेन के सम्पत्तिशाली वर्गों में डर का माहौल बना दिया और जब ऐसे ही विचार विलियम गॉडविन ने अपनी पुस्तक में व्यक्त करते हुए कहा कि उत्पादन के साधनों को थोड़े से लोगों के हाथों में संकेन्द्रण और उनके निजी हितों या मुनाफ़े के लिए उसके इस्तेमाल उत्पादन वृद्धि में बाधक है और यही समाज में बढ़ती असमानता और गरीबी का कारण है।

कंदोर्से और विलियम गॉडविन के उक्त विचारों और फ्रांसीसी क्रान्ति के प्रति आम लोगों के बढ़ते आकर्षण से इग्लैण्ड के सम्पत्तिशाली भूस्वामी वर्गों में खलबली मच गयी। तब उन्हें इस संकट से उबारने के लिए 1798 में माल्थस ने जनसंख्या पर अपनी एक पुस्तक प्रकाशित की पुस्तक का नाम काफी लम्बा 'एन एसे आन द प्रिंसिपल ऑफ पॉपुलेशन एज इट अफेक्ट्स द फ्यूचर इम्प्रूवमेण्ट ऑफ सोसायटी विथ रिमॉर्क्स ऑन द स्पेकुलेशन ऑफ मिगॉडविन, एम कंदोर्से एण्ड अदर राइटर्स' था और इसके प्रथम संस्करण पर लेखक का नाम नदारद था क्योंकि टॉमस राबर्ट माल्थस एक

पादरी थे और एक पादरी को जनसंख्या (जिसमें स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्धी मामले आते थे) पर लिखना अच्छा नहीं समझा जाता था। लेकिन लोगों ने इसका अनुमान लगा लिया था और बाद में आगे के संस्करणों में उनका नाम भी छपा।

माल्थस एक अर्थशास्त्री भी था। उसने भयभीत सम्पत्तिशाली वर्गों को भयमुक्त करने के लिए अर्थशास्त्र का जामा पहनकर जनसंख्या का सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसमें गरीबी और विपन्नता के लिए सम्पत्ति अधिकारों की तत्कालीन व्यवस्था या सामाजिक संस्थानों को दोषी ठहराने की जगह इसे प्रकृति प्रदत्त बताया। और कहा कि इसके लिए चूँकि प्रकृति दोषी है इसलिए उत्पादन सम्बन्धों में बदलाव की बात निरर्थक है। माल्थस के जनसंख्या के इस सिद्धान्त से सम्पत्तिशाली वर्गों को एक हथियार मिल गया, जिसका उन्होंने जमकर इस्तेमाल किया।

हालाँकि माल्थस के उक्त विचार में कोई मौलिकता नहीं थी, इस सम्बन्ध में कार्ल मार्क्स ने उन किताबों के नाम बताये जहाँ से माल्थस ने नकल मारी थी और इस बात को उजागर किया कि किताब की प्रसिद्धि का मुख्य कारण धनवानों का समर्थन था।

लड़ाई के बढ़ते खर्च और 1794-95 में फसल खराब होने से इग्लैण्ड काफी आर्थिक संकट में फँस गया। अनाज का भाव आसमान छूने लगा था। ऐसी स्थिति में कांदोर्से और फ्रांसीसी क्रान्ति के विचारों को जनता में फैलने के खतरे से मुकाबला करने में माल्थस का सिद्धान्त काफी कारगर साबित हुआ।

माल्थस के सिद्धान्त में जो कमी रह गयी थी उसे पूरा व संतुलित करने के उद्देश्य से उन्नीसवीं सदी के तीसरे दशक में 'नवमाल्थसवाद' सिद्धान्त आया। जिसने जनसंख्या वृद्धि के खतरे को मानते हुए इस खतरे को टालने के लिए कृत्रिम तरीके अपनाने पर जोर दिया और इसने एक आन्दोलन की शक्ल ले ली। इस सिद्धान्त ने उन्नीसवीं सदी के मध्य से लेकर बीसवीं सदी के सातवें दशक तक जनसंख्या नियंत्रण के लिए राज्यसत्ता के इस्तेमाल की बात की जिसका नमूना हम संजय गाँधी काल में देख चुके हैं। इस सिद्धान्त के प्रचार-प्रसार के लिए पुस्तके लिखी गयीं, पत्रिकाएँ निकाली गयी और संस्थानों का (परिवार नियोजन मंत्रालय) निर्माण किया गया। साथ ही हर समस्याओं की जड़ जनसंख्या वृद्धि है, इस बात का व्यापक प्रचार-प्रसार किया गया और इसी का परिणाम है कि जनता में भी अपनी समस्याओं के लिए जनसंख्या वृद्धि को ही ज़िम्मेदार ठहराने की प्रवृत्ति पायी जाती है।

शासक वर्ग द्वारा फैलाये गये जनसंख्या वृद्धि के प्रचार ने हमारी आँखों के समाने एक ऐसा परदा डाल दिया है जो हमें यह देखने से रोक रहा है कि आखिर क्यों एक तरफ तो गोदामों में अनाज सड़ रहा है और दूसरी ओर परिवार के परिवार भूख और गरीबी से तंग आकर आत्महत्या कर रहे हैं। टनों-टन गेहूँ समुद्र में बहा दिये जा रहे हैं, अनाजों के भारी पैदावार के बावजूद महंगाई बढ़ती जा रही है। बाज़ारों में सामान अँटा पड़ा है, लेकिन लोगों की जेब में खरीदने के लिए पैसा नहीं है।

आज हमें अपनी आँखों पर पड़े परदे को हटाकर सच्चाई को देखने का नजरिया विकसित करना होगा और सोचना होगा कि समाज में इतनी गैरबराबरी क्यों है? इतनी कमरतोड़ मेहनत के बाद भी क्यों मेहनतकशों के हिस्से भूख, गरीबी, बेरोजगारी, अशिक्षा ही आ रही है जबकि उनकी मेहनत से मुनाफ़ा बटोरने वालों के हिस्से दुनिया का सारा सुख मौजूद है। समाज की सारी दौलत और समृद्धि पैदा करने वाले के जीवन में यह अँधेरा क्यों है? इसका कारण जनसंख्या वृद्धि कत्तई नहीं है बल्कि शोषण पर टिकी वह व्यवस्था है जिस पर परदा डालने का काम माल्थस ने किया था।

—बागेश्वरी

'सैंया भये कोतवाल फिर डर काहे का'

केरल के एक जेल में माकपा कार्यकर्ताओं की समानांतर तानाशाही

कार्यालय संवाददाता

'सैंया भये कोतवाल फिर डर काहे का' इस कहावत को चरितार्थ कर रही है केरल की एक जेल। केरल में स्थित कन्नूर सेण्ट्रल जेल में आजीवन कारावास व मौत की सजा भुगत रहे सी.पी.एम. के कार्यकर्ता अपनी समानांतर तानाशाही चला रहे हैं और उन्हें जेल अधिकारियों की खुली छूट मिली हुई है।

जेल के ही एक कैदी ने मुख्य न्यायाधीश को एक पत्र भेजा है जिसमें इस बात का खुलासा किया गया है कि वहाँ कैद सी.पी.एम. के कार्यकर्ता दूसरे कैदियों पर हमले करते हैं और उन्हें प्रताड़ित करते हैं। पत्र में शिकायत की गयी है कि कामरेडो का दल अक्सर गैर राजनीतिक कैदियों या दूसरी पार्टियों के कैदियों को प्रताड़ित करता है और जेल अधिकारी इसे नज़रअन्दाज करते हैं। और जब तक उन्हें यह नहीं बता दिया जाता है कि आप भी माकपा के आदमी हैं, उनके साथ अत्याचार का सिलसिला जारी रहता है। पत्र में प्रताड़ित करने वाले दलों के मुखिया को नाम लेते हुए कहा गया है। कि

यदि इसकी शिकायत करने की कोई हिम्मत दिखाता है तो उसे चारों ओर से घेरकर पिटाई की जाती है। पत्र में इस बात का भी जिक्र किया गया है कि जेल में आजीवन कारावास की सजा पाने वाले गैर राजनीतिक हत्यारे हों या नशीले पदार्थ के तस्करे की सजा काट रहा आरोपी, अगर वे माकपा के लोग हैं तो एक ही ब्लाक में रहते हैं। कन्नूर जिला न्यायाधीश की जाँच रिपोर्ट में भी इस जेल को माकपा के लोगों की सुरक्षित जगह बताई गयी है। कैदी के उक्त पत्र को अदालत ने जनहित याचिका के तौर पर संज्ञान में लिया है।

तो यह है पूरे देश में मानवाधिकारों के उल्लंघन की घटनाओं पर शोर मचाने वाली तथाकथित वामपंथी सरकार की हकीकत। सी.पी.एम. के स्वशासित राज्य में किस तरह मानवाधिकारों का खुले आम उल्लंघन शासन-प्रशासन के सहयोग से खुद उसके कार्यकर्ताओं द्वारा हो रहा है—कन्नूर जेल की घटनाएँ इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। ये घटनाएँ सी.पी.एम. की तथाकथित वामपंथी सरकार के चाल चेहरे और चरित्र को बेनकाब कर देती हैं और उनके इस ढोंग और दुहरे चरित्र का पर्दाफाश भी कर देती है कि ये मेहनतकशों की सरकार है।

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी डा. दूधनाथ द्वारा 69, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा वाणी ग्राफिक्स, अलीगंज, लखनऊ से मुद्रित। कम्पोजिंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ।
संपादक : डा. दूधनाथ, सम्पादकीय पता : 69, बाबा का पुरवा, पेपर मिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006, सम्पादकीय उपकार्यालय : जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ।